

वीर सेवा मन्दिर दिल्ली



क्रम संख्या

काल नं०

स्थान

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वाचना प्रमुख

आचार्य तुलसी

जैन श्वेताम्बर तैरापन्थी महासभा
आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला
ग्रन्थ-१

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

विवेचक और सम्पादक
सुनि नथमल

प्रकाशक
जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति
३, पोर्चुगीज बर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

प्रबन्ध-व्यवस्थापक :

श्रीचन्द् रामपुरिया, बी० कॉम, बी० एल०

संयोजक :

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

घटक :

आदर्श साहित्य संघ

चूरु (राजस्थान)

आर्थिक-सहायक :

सरावगी चेरिटेबिल फण्ड

७, राजन रोड, कलकत्ता

प्रकाशन तिथि :

माघ महोत्सव

मार्गशीर्ष शुक्ला, सप्तमी २०२३

प्रति-संख्या :

११००

पृष्ठांक :

२६०

मूल्य :

५)

मुद्रक :

रोशन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस,

कलकत्ता

ग्रन्थानुक्रम

१. समर्पण
२. अन्तस्तोष
३. प्रकाशकीय
४. सम्पादकीय
५. विषयानुक्रम
६. समीक्षात्मक अध्ययन

परिशिष्ट

१. चूर्णि की परिभाषाएँ
२. प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

समर्पण

विलोडियं आगम बुद्ध मेव, जितने आगम-बोहन कर कर,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं । पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
सज्जाय-सज्जाण-रयस्स निच्चं, भूत-सङ्ख्यान लीन चिर चिन्तन,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुब्बं ॥ जयाचार्य को विमल भाव से ॥

चिनयावनत
आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उम और सिंचित द्रुम-निकुंज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपने कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। थिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुध्रमी क्षण उसमें लगे। संकल्प फलवान् बना और वैसा हो हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

विवेचक और सम्पादक

मुनि नथमल

सहयोगी : मुनि बुलहराज

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन-ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

“दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन”—‘आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला’ के प्रथम ग्रन्थ के रूप में पाठकों के हाथों में है। इस ग्रन्थ-माला में एक के बाद एक सभी आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन प्रकाशित करने की योजना है। आगम एवं उनके व्याख्या ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से भारतीय आध्यात्मिक-स्तर, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व आदि की जो बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है, उसका यह ग्रन्थ एक नमूना है। आगम-साहित्य प्रकाशन की विस्तृत योजना में ऐसे संस्करणों का अपना एक अतुल्य स्थान है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

विद्वज्जन एवं साधारण जनता को लक्ष्य में रखते हुए आगम-साहित्य संशोधन कार्य को छः ग्रन्थ-माला के रूप में ग्रथित करने का उपक्रम बाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी ने अपने बलिष्ठ हाथों में लिया है। ग्रन्थ-मालाओं की परिकल्पना निम्न प्रकार है :

१—आगम-सुप्त ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि होंगे।

२—आगम-ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद, पद्यानुक्रम या सूत्रानुक्रम आदि होंगे।

३—आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होंगे।

४—आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होंगे।

५—आगम-कथा ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों से सम्बन्धित कथाओं का संकलन होगा।

६—वर्गीकृत-आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के वर्गीकृत और संक्षिप्त संस्करण होंगे।

परम अद्वेय आचार्य श्री तुलसी और उनके विद्वान् साधु-साध्वी गण अथवा अधिक परिश्रमशीलता और संशोधक वृत्ति से योजना की परिपूर्ति में जुटे हुए हैं।

इस योजना की परिसीमा में दशवैकालिक (भाग-२) संशोधित मूलपाठ, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद और विस्तृत टिप्पणियों सहित बबल बिमार्ई ३ साइज के ८०० पृष्ठों के बृहदाकार में प्रकाशित किया जा चुका है। आज तक प्रकाशित दशवैकालिक के संस्करणों में जैन-अर्जुन विद्वानों ने उसे मुक्त रूप से सर्वोच्च कोटि का स्वीकार किया है। बाचना प्रमुख आचार्य श्री की देख-रेख में होने वाले कार्य की महत्ता इसी से आँकी जा सकती है।

ग्रन्थ ग्रन्थ, जो इसके साथ ही प्रकाशित हो रहे हैं, निम्न प्रकार हैं :

१—दशवैकालिकं तद् उत्तरजम्भयणाणि

(आगम-मुक्त ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

२ - धर्म-प्रज्ञप्ति, खण्ड-१ : दशवैकालिक वर्गीकृत

(वर्गीकृत-आगम ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

निम्नलिखित ग्रन्थ मुद्रण में हैं :—

१—उत्तरजम्भयण : मूल, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद आदि युक्त संस्करण ।

(आगम-ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

२—आगारा :

(आगम-मुक्त ग्रन्थ-माला का द्वितीय ग्रन्थ)

पाण्डुलिपि प्रणयन :

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का प्रणयन आदर्श साहित्य संघ द्वारा हुआ है । पाण्डु प्रति महासभा को प्रकाशनार्थ प्रदान कर संघ ने जिस उदारता का परिचय दिया है, उसके लिए आगम-साहित्य प्रकाशन समिति अपने हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती है । आर्थिक योगदान :

इस ग्रन्थ के मुद्रण-वर्क का भार श्री रामकुमारजी सरावगी की प्रेरणा से श्री सरावगी चेरिटेबल फण्ड, कलकत्ता, जिसके श्री पारेलालजी सरावगी, गोविन्दलालजी सरावगी, मज्जनकुमारजी सरावगी एवं कमलनारायणजी सरावगी द्रष्टी हैं, ने वहन किया है ।

श्री सरावगी चेरिटेबल फण्ड का यह आर्थिक अनुदान स्वर्गीय स्वनामधेय आचार्य महादेवलालजी सरावगी एवं उनके सुयोग्य दिवंगत पुत्र पन्नालालजी सरावगी (सदस्य भारतीय लोक सभा) की स्मृति में प्राप्त हुआ है । स्व० महादेवलालजी सरावगी तैरापंच-सम्प्रदाय के एक अग्रगण्य आचार्य थे और कलकत्ता के प्रसिद्ध प्रविष्टान महादेव रामकुमार से सम्बन्धित थे । स्व० पन्नालालजी सरावगी महासभा एवं साहित्य प्रकाशन समिति के बड़े उत्साही एवं प्राणशान् सदस्य रहे । आगम-प्रकाशन योजना में उनकी आरम्भ से ही अमिश्रित रही ।

उक्त योगदान के प्रति हम उक्त फण्ड के दृष्टांत के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं ।

आगम-साहित्य प्रकाशन की व्यवस्था के लिए महासभा द्वारा सन् १९६५ में सर्वश्री मदनचन्द्रजी गोठी, मोहनलालजी बाँठिया 'बबल', गोविन्दरामजी सरावगी, खेमचन्द्रजी सेठिया एवं श्रीचन्द्र रामपुरिया की ज्ञान-वाङ्मय प्रकाशन समिति गठित की गई थी, जिसकी अवधि पाँच वर्ष की रखी गई । हमें लिखते हुए परम खेद हो रहा है कि हमारे अन्य साथी एवं परामर्शक श्री मदनचन्द्रजी गोठी हमारे बीच नहीं

रहे। इस अवसर पर हम उनकी अपूर्व सेवाओं को याद किये बिना नहीं रह सकते। उनकी स्मृति से आज भी हृदय में बल का संचार होता है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन-जिन विद्वानों अथवा प्रकाशन-संस्थाओं के ग्रन्थ तथा प्रकाशनों का उपयोग हुआ है, उन सबके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता-७
८-२, ६७

श्रीचन्द्र रामपुरिया
संयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

सम्पादकीय

सम्पादन का कार्य सरल नहीं है—यह उन्हें सुविदित है, जिन्होंने इस विद्या में कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य और भी जटिल है, जिनकी भाषा और भाव-धारा आज की भाषा और भाव-धारा से बहुत भिन्न हो चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-सून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार में आरम्भ होता है, वह उसी आकार में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बढ़ा हो जाता है या छोटा। यह ज्ञास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। और कोई भी आकार ऐसा नहीं है, जो कृत है और परिवर्तनशील नहीं है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारों और आचारों के प्रति अपरिवर्तन-शीलता का भाग्य मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-बिन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। अकृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहाँ परिवर्तन का स्पर्श न हो। इस विषय में जो है, वह वही है, जिनकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विभक्त नहीं है।

शब्द की परिधि में बंधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है, जो तीनों कालों में समान रूप से प्रकाशित रह सके? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है—भाषा शास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है, जो आज प्रचलित है। 'पाण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-ग्रन्थों और अशोक के शिला-लेखों में है, वह आज के भ्रमण-साहित्य में नहीं है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम-साहित्य के सैकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर कोई चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुःख है।

मनुष्य अपनी शक्ति में विश्वास करता है और अपने पोष से खेलता है, अतः वह किसी भी कार्य को इसलिए नहीं छोड़ देता कि वह दुःख है। यदि वह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नहीं हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नर्बावी टोकाकार (ब्रह्मदेव सूरि) के सामने अनेक कठिनाइयाँ थीं। उन्होंने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सद्गृह्य विद्योगतः ।

सर्वस्वरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेष्व मे ॥ १ ॥

वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।

सूत्राणामतिगाम्भीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥

(स्थानाङ्ग वृत्ति, प्रशस्ति)

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्पत् गृह-परम्परा) प्राप्त नहीं है ।

२. सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नहीं है ।

३. स्वकीय और परकीय सर्व शास्त्रों को मैंने न देखा है और जिन्हें देखा है उनकी भी अविकल स्मृति नहीं है ।

४. अनेक वाचनाएँ (आगमिक अध्यापन की पद्धतियाँ) हैं ।

५. पुस्तकें अशुद्ध हैं ।

६. कृतियों सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गम्भीर हैं ।

७. अर्थ-विषयक मतभेद भी हैं ।

इन सारी कठिनाइयों के उद्घाटन भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गए ।

कठिनाइयों आज भी कम नहीं हैं । किन्तु उनके होते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया । उनके शक्ति-शाली हाथों का हाथ पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो मला आगम-साहित्य जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राण-संचार करना क्या बड़ी बात है ? बड़ी बात यह है कि आचार्य श्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियों की असमर्थ अंगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है । सम्पादन-कार्य में हमें आचार्य श्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है । आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए पर्याप्त समय दिया है । उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का सम्बल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं ।

आगम-सम्पादन की रूप-रेखा

आगम-साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं—विद्वद्-वर्ग और जन-साधारण । दोनों को दृष्टि में रख कर हमने इस कार्य को छः ग्रन्थ-मालाओं में ग्रथित किया है । उसका आकार यह है :

१—आगम-मुत्त-ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि होंगे ।

२—आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, संस्कृत-छाया, अनुवाद, पद्यानुक्रम या सूत्रानुक्रम आदि होंगे ।

४—आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होंगे ।

५—आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होंगे ।

६—आगम-कथा ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थमाला में सभी आगमों से सम्बन्धित कथाओं का संकलन होगा ।

७—वर्गीकृत-आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के वर्गीकृत और संक्षिप्त संस्करण होंगे ।

प्रस्तुत पुस्तक आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ है । इसमें दशवर्षकालिक का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । समीक्षा का पहला सूत्र है तटस्थता । आचार्य श्री के सत्य-स्पर्शी अन्तःकरण ने हमें तटस्थता के प्रति दृष्टि दी है । हमने उसी से समग्र-कृति को देखा है । छद्मस्थ-मनुष्य अपने अपूर्ण-दर्शन का मागी है इसलिए वह यह गर्व नहीं कर सकता कि उसने हर तथ्य को परिपूर्ण दृष्टि से देखा है । हम भी छद्मस्थ हैं, इसलिए हम परिपूर्ण दर्शन का दुहाई नहीं दे सकते । पर हमने हर शब्द और उसके अर्थ को तटस्थता की दृष्टि से देखने का विनम्र प्रयत्न किया है, यह कहना सत्य को अनाश्रित करना है ।

शोधपूर्ण सम्पादन में जहाँ लाभ है, वहाँ कठिनाइयाँ भी कम नहीं हैं । मेरे मतानुसार शोध के चार मान-दण्ड हो सकते हैं :

१—सर्वांगतः नई स्थापना ।

२—एकांगतः नई स्थापना ।

३—पूर्व स्थापना में संशोधन ।

४—पूर्व स्थापना में विकास ।

आगम-साहित्य के सम्पादन में हमें नई स्थापना या पूर्व स्थापना में संशोधन या विकास नहीं करना है । वह हमारी स्वतंत्र मेधा का परिणाम है । इस समय तो हमें अतीत का अनुसन्धान करना है । हमारा कार्य शोधात्मक होने की अपेक्षा अनुसन्धा-मात्मक अधिक है । दो हजार वर्ष की अवधि में जो विस्मृत या अपरिचित हो गया, उसका पुनः सन्धान करने में हमें स्थान-स्थान पर शोधात्मक दृष्टि का भी सहारा लेना होता है । इसीलिए इस कार्य को हम शोध-पूर्ण सम्पादन की भी संज्ञा दे देते हैं ।

कृतज्ञता

मैं आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञ हूँ, इन शब्दों में जितना व्यवहार है, उतनी सच्चाई नहीं है । सच्चाई यह है कि मेरी हर कृति उनकी प्रेरणा-रेखाओं का संकलन है । कृतज्ञ शब्द में इतनी सामर्थ्य नहीं कि मैं इसके द्वारा मन की सारी सच्चाई को प्रकट कर दूँ ।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में मुझे अपने अमिन्न सहयोगी मुनि दुलहराजजी का पूर्ण सहयोग रहा है पर वे नहीं चाहते कि मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ ।

मुनि ताराचन्दजी तथा साध्वी मंजुलाजी ने भी यत्न-तन्त्र मेरा हाथ बढ़ाया है ।

निर्युक्ति काल से लेकर अब तक की उपलब्ध-साधन-सामग्रो से हमें दृष्टियाँ प्राप्त हुई हैं, हमारा कार्य-पथ सरल हुआ है, इसलिए मैं उसके प्रणेता आचार्यों व मनीषियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

सं० २०२३, भाद्रवी पूर्णिमा
बीदासर ।

—मुनि नथमल

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

दशवैकालिक का बहिरंग परिचय

१—जैन आगम और दशवैकालिक	५० ३
आगम की परिभाषा	
आगम के वर्गीकरण में दशवैकालिक का स्थान	
नामकरण	
उपयोगिता और स्थापना	
२—दशवैकालिक के कर्त्ता और रचनाकाल	१३
रचनाकार का जीवन-परिचय	
निर्मूलन या लघुकरण	
रचना का उद्देश्य	
रचनाकाल	
३—रचना-शैली	१८
४—व्याकरण-विमर्श	२२
संधि	
कारक	
वचन	
समास	
प्रत्यय	
लिङ्ग	
क्रिया और अर्द्धक्रिया	
क्रिया-विशेषण	
अर्थ-प्रयोग	
विशेष-विमर्श	
क्रम-भेद	
५—भाषा की दृष्टि से	३६
६—शारीर-परावर्श	४०
७—छन्द-विमर्श	४४

८—उपमा और दृष्टान्त	४६
९—परिभाषाएँ	४९
१०—चूलिका	५०
११—दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका	५३
(दशवैकालिक और आचारांग चूलिका के तुलना-स्थल)	
१२—दशवैकालिक का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव	७२
१३—तुलना (जैन, बौद्ध और वैदिक)	७५

द्वितीय अध्याय

दशवैकालिक का अन्तरंग परिचय

१—साधना	८३
समग्रदर्शन	
साधना के उरुवं का दृष्टिकोण	
२—साधना के अंग	८७
अहिंसा का दृष्टिकोण	
संयमी जीवन की सुरक्षा का दृष्टिकोण	
प्रवचन गौरव का दृष्टिकोण	
परीषद्-सहन का दृष्टिकोण	
नियेष-हेतुओं का स्पूल विभाग	
विनय का दृष्टिकोण	

तृतीय अध्याय

महाव्रत

१—जीवों का वर्गीकरण	१११
२—संक्षिप्त व्याख्या	११४
अहिंसा और समता	
पृथ्वी जगत् और अहिंसक निर्देश	
अपकाय—बल	
अपजगत् और अहिंसक निर्देश	
तेजस् जगत् और अहिंसक निर्देश	
वायु जगत् और अहिंसक निर्देश	
वनस्पति	

२—संक्षिप्त व्याख्या

वनस्पति जगत् और अहिंसक निर्देश

त्रस जगत् और अहिंसक निर्देश

सत्य

अचोर्य

ब्रह्मचर्य

अपरिग्रह

चतुर्थ अध्याय

चर्या-पथ

१—चर्या और विहार	१२५
२—वेग-निरोध	१२८
३—इर्यापथ	१२६
कैसे चले ?	
कैसे बैठे ?	
कैसे खड़ा रहे ?	
४—वाक्-शुद्धि	१३२
कैसे बोले ?	
५—एषणा	१३६
भिक्षा की एषणा क्यों और कैसे ?	
भिक्षा कैसे ले ?	
कैसे खाये ?	
६—इन्द्रिय और मनोनिग्रह	१४२
७—स्थिरीकरण	१४३
८—किस लिए ?	१४४
९—विनय	१४६
१०—पूज्य कौन ?	१४७
११—मिक्षु कौन ?	१४८
१२—मुनि के विशेषण	१४९
१३—मोक्ष का क्रम	१५०

(ई)

पंचम अध्याय

व्याख्या-ग्रन्थों के सन्दर्भ में

१—परिचय और परम्परा	१५५
२—व्याख्यागत प्राचीन परम्पराएँ	१५८
३—आहार-चर्या	१६१
४—मुनि कैसा हो ?	१६७
५—निक्षेप पद्धति	१७४

धर्म

अर्थ

अपाय

उपाय

आचार

पद

काय

६—निरुक्त	१६२
७—एकार्थक	१६८
८—सम्प्रदाय और संस्कृति	२०३

गृह

उपकरण

भोजन

फल

शाक

स्नाय

चूर्ण और मंथ

पुष्प

आभूषण

प्रसाधन

आमोद-शमोद तथा मनोरंजन

विश्वास

रोग और चिकित्सा

उपासना

८—सभ्यता और संस्कृति

यज्ञ

दण्ड-विधि

शिक्षा

सम्बोधन

राज्य व्यवस्था

जनपद

शस्त्र

याचना और दान

भोज

मनुष्य का स्थान

कर्त्तव्य और परम्परा

व्यापार यात्रा

पुस्तक

धातु

पशु

धर्मण

व्यक्ति

सिक्का

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय १

ब्रह्मिरंग परिचय

१-जैन आगम और दशवैकालिक

आगम की परिभाषा :

ज्ञान के अनेक वर्गीकरण मिलते हैं। वे समय-समय पर हुए हैं। उनमें से तीन प्रमुख इस प्रकार हैं—

१. प्रथम वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पाँच प्रकार हैं—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मन पर्याय और (५) केवल।^१ यह प्राचीनतम (ई० पू० ५-६ शताब्दी) प्रतीत होता है।

२. प्रमाण की मीमांसा प्रारम्भ हुई तब (ई० ५ शताब्दी) ज्ञान का दूसरा वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।^२

३. न्यायशास्त्र के विकास काल (ई० ७-८ शताब्दी) में ज्ञान का तीसरा वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार प्रमाण के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।^३ प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—(१) सांख्यवहारिक और (२) पारमार्थिक।^४ परोक्ष के पाँच प्रकार हैं—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञा, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।^५

१-उत्तराध्ययन २८।४ :

तत्प पंचविहं नाणं सुयं आभिनिबोहियं ।

ओहिनानं तु तद्वयं मणनानं च केवलं ॥

२-तंडी, सूत्र २ :

तं समासओ दुबिहं पणत्तं, तंजहा—पच्चक्खं च परोक्खं च ।

३-प्रमाणनयतत्त्वालोक २।१ :

तद् द्विमेवं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ।

४-वही, २।४ :

तद् द्विप्रकारम् सांख्यवहारिकं पारमार्थिकं च ।

५-वही, ३।२ :

स्मरणप्रत्यभिज्ञातर्कानुमानागममेवतस्तत्पञ्चप्रकारम् ।

प्रथम और द्वितीय वर्गीकरण में आगम का उल्लेख नहीं है। तृतीय वर्गीकरण में उसका परोक्ष के एक प्रकार के रूप में उल्लेख हुआ है। द्वितीय वर्गीकरण की व्यवस्था हुई तब पाँच ज्ञानों को दो भागों में विभक्त किया गया—मति और श्रुत—परोक्ष^१ तथा अवधि, मन पर्याय और केवल—प्रत्यक्ष।^२ तृतीय वर्गीकरण पूर्णतः व्यायशास्त्रीय था, इसलिए उसमें ज्ञान का विभाजन विशुद्ध प्रमाण-मीमांसा की दृष्टि से किया गया। किन्तु उसका आधार वही प्राचीन वर्गीकरण था। तृतीय वर्गीकरण के परोक्ष का प्रथम वर्गीकरण में समवतार किया जाय तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान—मतिज्ञान^३ में तथा आगम—श्रुत-ज्ञान में समवतरित होता है। इस प्रकार तीनों वर्गीकरणों में प्रकार-भेद होने पर भी तात्पर्य भेद नहीं है।

प्रथम दो वर्गीकरणों और तृतीय वर्गीकरण में भी यह स्पष्ट फलित होता है कि आगम श्रुत का ही विशिष्ट या उत्तरकालीन रूप है। श्रुत का अर्थ है—शब्द में होने वाला ज्ञान। आगम का अर्थ भी यही है। इस समानता के आधार पर ही श्रुत और आगम को एकार्थवाची कहा गया।^४ किन्तु श्रुत और आगम सर्वथा एकार्थवाची नहीं हैं। श्रुत एक सामान्य और व्यापक शब्द है। आगम का अपना विशिष्ट अर्थ है। भगवती, स्थानांग और व्यवहार सूत्र में पाँच प्रकार के व्यवहार बतलाए गए हैं—
(१) आगम, (२) श्रुत, (३) आज्ञा, (४) धारणा और (५) जीत। इनमें पहला आगम और दूसरा श्रुत है। केवलज्ञानी, मन पर्यायज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशांगी और दशदुर्बी का आगम कहा गया है। इनमें प्रथम तीन प्रत्यक्षज्ञानी और अन्तिम दो

१-तर्दी, सूत्र २४ :

परोक्षज्ञानं दुर्विहं पन्नत्तं, तंजहा—आभिणिबोह्यनाण-परोक्षं च, सुयनाण-परोक्षं च।

२-वही, सूत्र ५ :

नोइंदिय-पच्चक्षं तिविहं पणत्तं, तंजहा—ओहिनाण-पच्चक्षं, मणपज्जवनाण-पच्चक्षं, केवलनाण-पच्चक्षं।

३-तत्त्वार्थ सूत्र, १।१३ :

मति स्मृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्वास्तरम्।

४-अनुयोगट्टार, सूत्र ५१।

५-(क) भगवती ८।८।३३९ :

पंचविहं ववहारे पन्नत्ते, तंजहा - आगमे, सुए, आज्ञा, धारणा, जीए।

(ख) स्थानांग, ५।२।४२१।

(ग) व्यवहार १०।३।

परोक्षज्ञानी अर्थात् श्रुतज्ञानी है। इसके आधार पर आगम की परिभाषा यह बनती है—
प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष जैसा अविसंवादी ज्ञान आगम है। श्रुत विमंवादी भी हो सकता है
पर आगम विसंवादी नहीं होता। आगम और श्रुत को भिन्न मानने का यह पृष्ठ
आधार है।

कई आचार्यों ने नवपूर्वी को भी आगम माना है।^१ किन्तु उन्हीं के अनुसार
चतुर्दशपूर्वी और सम्पूर्ण दशपूर्वी का श्रुत सम्यक् ही होता है और नवपूर्वी का श्रुत
मिथ्या भी हो सकता है।^२ आचार्य मलयगिरि ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“दशपूर्वी नियमत सम्यक्दृष्टि होने है। नवपूर्वी सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों
हो सकते हैं। इसलिए दशपूर्वी का श्रुत सम्यक् ही होता है और नवपूर्वी का श्रुत मिथ्या
भी हो जाता है।^३ जयाचार्य ने सम्पूर्ण दशपूर्वी द्वारा रचित शास्त्र का ही प्रामाण्य
स्वीकार किया है।^४ नवपूर्वी की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं हो सकती, इसलिए
आगम-पुरुष पाँच—केवली, अवधिज्ञानी, मन पर्यायज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी—ही
होने चाहिए। उनका ज्ञान नियमत अविसंवादी होता है, इसलिए वे अनुपचरित दृष्टि
से ज्ञागम हैं।

१—(क) व्यवहारभाष्य, १३५ :

आगमसुयववहारी आगमतो छव्विहो उ ववहारो ।

केवल मणोहि चोदस-दस-नव-पुब्बी उ नायब्बो ॥

(ख) भगवती ८।८।३३९, वृत्ति :

तत्र आयम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः केवलमनःपर्यायावधिपूर्व-
चतुर्दशकदशकनवकल्पः ।

२—तंबी, सूत्र ४२ :

इच्छेद्वयं बुबालसंगं गणिपिडगं चौदसपुब्बिस्स सम्मसुयं, अमिण्वसपुब्बिस्स
सम्मसुयं तेण परं मिण्णेषु मयणा ।

३—तंबी, सूत्र ४२, वृत्ति :

सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वाविकं हि नियमतः सम्यग्दृष्टेरेव न मिथ्यादृष्टेःततः
सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वात्पर्यायानुपूर्व्याः परं मिल्लेषु दशसु पूर्वेषु मज्जना-विकल्पना
कवाचित्सम्यक्भूतं कवाचिन्मिथ्याभूतमित्यर्थः ।

४—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, १८।१२ :

सम्पूर्ण दश पूर्वधर, चउदश प्रवरधार ।

तास रचित आगम हुवे, वाणं न्याय विचार ॥

आगम मुमुक्षु की प्रवृत्ति और निवृत्ति के निर्देशक होते हैं। उनके अभाव में मुमुक्षु को व्यवहार का निर्देश श्रुत से मिलता है। आगम की विद्यमानता में श्रुत का स्थान गौण होता है। किन्तु उनकी अनुपस्थिति में व्यवहार का मुख्य प्रवर्तक श्रुत बन जाता है।^१ दशवैकालिक श्रुत है, इसलिए जैन साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस समय आगम-पुरुष कोई नहीं है। जम्बू स्वामी (वीर निर्वाण की पहली शताब्दी) अंतिम केवली थे। अंतिम मन पर्यायज्ञानी और अवधिज्ञानी कौन हुए, इसका उल्लेख नहीं मिलता। स्थूलभद्र (वीर निर्वाण की २-३ शताब्दी) अंतिम चतुर्दश-पूर्वधर थे। वज्र स्वामी (वीर निर्वाण की छठी शताब्दी) दश-पूर्वधरो में अंतिम थे। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार अंतिम दश-पूर्वधर धर्मसेन (वीर-निर्वाण की चौथी शताब्दी) थे।^२ आगम-पुरुष की अनुपस्थिति में इनका स्थान श्रुत को मिला।

आगम-पुरुषों की अनुपस्थिति में उनकी रचनाओं (सम्यक्-श्रुत) को भी आगम कहा जाने लगा। अनुयोगद्वार में द्वादशांगी के लिए आगम शब्द का प्रयोग हुआ है।^३ नंदी में द्वादशांगी के लिए सम्यक्-श्रुत का प्रयोग मिलता है।^४ इस प्रकार उत्तरकाल में सम्यक्-श्रुत और आगम पर्यायवाची बन गए। दशवैकालिक सम्यक्-श्रुत है और साथ-साथ आगम-पुरुष की कृति होने के कारण आगम भी है।

न्यायशास्त्रों में श्रुत या शब्द-ज्ञान के स्थान में आगम का प्रयोग मुख्य हो गया। न्याय-शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार आप्त-वचन से होने वाला अर्थ-संवेदन आगम है।^५ उपचार-दृष्टि में आप्त-वचन को भी आगम कहा जाता है।^६ इस न्याय-शास्त्रीय आगम का वही अर्थ है, जो प्राचीन परम्परा में सम्यक्-श्रुत का है।

१-मगवती ८।८।३३९।

२-जयध्वला, प्रस्तावना, पृष्ठ ४९।

३-(क) अनुयोगद्वार, सूत्र ७०२ :

से किं तं आगमे ? आगमे बुद्धिं पण्णत्ते, तंजहा लोइए य लोउत्तरिए य।

(ख) वही, सूत्र ७०४ :

से किं तं लोउत्तरिए ? लोउत्तरिए जण्णं इमं अरिहंतेहिं मगवत्तेहिं
उपपण्णजाणवंसणधरेहिं तीयपच्चुप्पण्णमणागयजाणएहिं तिल्लुक्कवह्मिज्ज-
महिअपूइएहिं सव्वणूहिं सव्ववरसीहिं पणीअं बुवालसंगं गणिपिडगं।

४-नंदी, सूत्र ४२ :

से किं तं सम्मसुयं ? सम्मसुयं.....बुवालसंगं गणिपिडगं।

५-प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४।१ :

आप्त-वचनादायिर्भूतमर्थ-संवेदनमागमः।

६-वही, ४।२ : उपचारादाप्तवचनं च।

शब्द-ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता वक्ता पर निर्भर है। आत्म का वचन विसंवादी नहीं होता, इसलिए उसका प्रामाण्य होता है। वेदान्त के आचार्यों ने इसे इस रूप में प्रतिपादित किया है कि जिस वाक्य का तात्पर्यार्थ प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होता, वह वाक्य प्रमाण होता है।^१ प्रमाणान्तर से वही वाक्य बाधित नहीं होता, जो आत्म पुरुष (या आगम-पुरुष) द्वारा प्रतिपादित होता है। इस प्रकार आगम और आम-पुरुष सम-रेखा में स्थित हो जाते हैं। आगम और श्रुत के अर्थ में 'सूत्र' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।^२ श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना और आगम इन्हे एकार्थवाची कहा गया है।^३ सूत्र का प्रयोग आगम के विशेषण के रूप में भी होता है। इसका सम्बन्ध प्रधानतया संकलना से है। भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया (अथवा जो विस्तार है) वह अर्थागम और गणधरो ने उसे गुम्फित किया (अथवा जो संक्षेप है) वह 'सूत्रागम' और इन दोनों का समन्वित रूप 'तदुभयागम' कहलाता है।^४

दोनों आगमों में प्राप्त अन्तर का अध्ययन करने के बाद भी आचारांग की प्रथम चूला की पिण्डेषणा और भाष्यगत के निर्माण में दशवैकालिक का योग है—इस अभिमत को अम्बीकार नहीं किया जा सकता।

दशवैकालिक की रचना आचारांग चूला से पहले हो चुकी थी, इसका पुष्ट आधार प्राप्त होता है। प्राचीनकाल में आचारांग (प्रथम श्रुतस्कंध) पढ़ने के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था, किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् वह दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा।

१-वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद, पृष्ठ १०८ :

यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम्।

२-दशवैकालिक चूलिका, २।११ :

सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खु।

३-(क) अनुयोगद्वार, सूत्र ५१ :

सुयसुत्तगंधसिद्धंत सासणे आण वयण उवएसे।

पन्नवण आगमेवि य एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥

(ख) विशेषावश्यक भाष्य. भाषा ८९७।

४-अनुयोगद्वार, सूत्र ७०४ :

अहवा आगमे तिबिहे पणत्ते, तंजहा—सुत्तागमे अत्थागमे तदुभयागमे।

प्राचीन काल में 'आमगंध' (आचारांग १।२।५) का अध्ययन कर मुनि पिण्डकल्पी (भिक्षाग्रही) होते थे। फिर वे दशवैकालिक की 'पिण्डेयणा' के अध्ययन के पश्चात् पिण्डकल्पी होने लगे।

यदि आचारांग चूला की रचना पहले हो गई होती तो दशवैकालिक को यह स्थान प्राप्त नहीं होता।

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि आचारांग चूला की रचना दशवैकालिक के बाद हुई है।

आगम के वर्गीकरण में दशवैकालिक का स्थान :

आगमों के मुख्य वर्ग दो हैं—अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य।^१ बारह आगम अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, विवाह-प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक-दशा, अन्तकृत्-दशा, अनुत्तरोपपातिक-दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद।^२ अंग-बाह्य के दो प्रकार हैं—आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त।^३ आवश्यक-व्यतिरिक्त के दो प्रकार हैं—कालिक और उत्कालिक।^४ उत्कालिक के अन्तर्गत अनेक आगम हैं। उनमें पहला नाम दशवैकालिक का है।^५ दशवैकालिक आगम-पुरुष की रचना है, इसलिए यह आगम है। गणधर-रचित आगम ही अंग-प्रविष्ट होते हैं और यह स्पष्ट-रचित है इसलिए अंग-बाह्य है। कालिक-आगम दिन और रात के प्रथम और

१—नंदी, सूत्र ६७ :

अथवा तं समासओ दुबिहं पन्नत्तं, तंजहा—अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।

२—वही, सूत्र ७४ :

से किं तं अंगपविट्ठं? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पन्नत्तं, तंजहा—आयारो १, सूयगडो २, ठाणं ३, समवाओ ४, विवाहपन्नत्ती ५, नायाधम्मकहाओ ६, उवासगवसाओ ७, अंतगडदसाओ ८, अगुत्तरोववाइयदसाओ ९, पण्हाबागर-णाइं १०, जिवागसुयं ११, दिट्ठिवाओ १२।

३—वही, सूत्र ६८ :

से किं तं अंगबाहिरं? अंगबाहिरं दुबिहं पन्नत्तं, तंजहा—आवस्सयं च, आवस्सयवइरित्तं च।

४—वही, सूत्र ७० :

से किं तं आवस्सयवइरित्तं? आवस्सयवइरित्तं दुबिहं पन्नत्तं, तंजहा—कालियं उक्कालियं च।

५—वही, सूत्र ७१ :

से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अगेगविहं पन्नत्तं, तंजहा—वसवेयालियं...।

चरम प्रहर में ही पड़े जा सकते हैं। किन्तु दशवैकालिक उत्कालिक आगम है इसलिए यह सम्बाध्यायी के अतिरिक्त सभी प्रहरों में पढ़ा जा सकता है। व्याख्या की दृष्टि से आगम चार भागों में विभक्त किए गए हैं—

१—चरणकरणानुयोग

३—गणितानुयोग

२—धर्मकथानुयोग

४—द्रव्यानुयोग

भगवान् महावीर से लेकर आर्यरक्षित से पहले तक यह विभाग नहीं था। पहले एक साथ चारों अनुयोग किए जाते थे। आर्यरक्षित ने बुद्धि-कौशल की कमी देख अनुयोग के विभाग कर दिए। उसके बाद प्रत्येक अनुयोग को अलग-अलग निरूपण करने की परम्परा चली। इस परम्परा के अनुसार दशवैकालिक का समावेश चरणकरणानुयोग में होता है।^१ इसमें चरण (मूलगुण^२) और करण (उत्तरगुण^३) इन दोनों का अनुयोग है। आगे चलकर आगमों का और वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के अतिरिक्त मूल और छेद—ये दो वर्ग और किए गए। दशवैकालिक 'मूल' आगम सूत्र माना जाता है।^४

१—अगस्त्य चूर्णि:

उद्दिष्ट-समुद्दिष्ट-अगुणा तस्स अगुयोगो भवति तेण अहिगारो। सो चउच्चिहो, तंजहा—चरणकरणानुयोगो सो य कालिय सुयावि १, धम्मगुओगो इसि-मासियावि २, गणियागुओगो सूरपणत्तियावि ३, बवियागुओगो दिट्ठवावो ४, स एव समासओ बुविहो पृहत्तागुओगो अपुहत्तागुओगो य। जं एकत्तपट्टवित्ते चत्तारि वि मासिज्जति एत्तं अहत्तं, तं पूण भट्टारगाओ जाव अज्जवइरा। ततो अरेण पृहत्तं जत्थ पत्तेयं पमासिज्जति। मासणाविहिहत्तकरणं अज्जरक्खिय पूसमित्ततिकविक्काविचित्तेसत्ता सण्णति। इह चरणकरणानुयोगेण अधिकारो।

२—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५५२ :

चरणं मूलगुणाः।

वय समण-धम्म संयम, वेदावचनं च धम्मगुत्तीओ।

णाणाइत्तियं तव, कोहन्निगहाई चरणमेयं॥

३—बही, गाथा ५६३ :

करणं उत्तरगुणाः।

पिंडवित्तोही समिई, माघण पडिमा इ इंदियनिरोहो।

पडिलेहण गुत्तीओ, अभिगहा चेव करणं तु॥

४—बेलो—'वसवेजालिय तह उत्तरज्जयणाणि' की भूमिका, पृ० १-९।

नामकरण :

प्रस्तुत आगम के दो नाम उपलब्ध होते हैं—दसवेयालिय^१ (दशवैकालिक) और दसकालिय^२ (दशकालिक) ।

यह नाम 'दस' और 'वैकालिक' या 'कालिक' इन दो पदों से बनता है। दस (दश) शब्द इसके अध्ययनों की संख्या का सूचक है। इनकी पूर्ति विकाल-वेला में हुई इसलिए इसे वैकालिक कहा गया। सामान्य विधि के अनुसार आगम-रचना पूर्वाह्न में की जाती है किन्तु मनक को अल्पायु देख आचार्य शय्यम्भव ने तत्काल—अपराह्न में ही इसका उद्घरण शुरू किया और यह विकाल में पूरा हुआ।

स्वाध्याय का काल चार प्रहर—दिन और रात के प्रथम और अंतिम प्रहर—का है। यह स्वाध्याय-काल के बिना (विकाल में) भी पढ़ा जा सकता है, इसलिए इस आगम का नाम 'दशवैकालिक' रखा गया है।

यह चतुर्दश-पूर्वी-काल से आया हुआ है अथवा काल को लक्ष्य कर किया हुआ है, इसलिए इसका नाम 'दशवैकालिक' रखा गया है।

इसका दसवाँ अध्ययन दैतालिक नाम के वृत्त में रचा हुआ है, इसलिए इसका नाम 'दसवैतालिय' हो सकता है।

ये अगस्त्य चूर्ण के अभिमत हैं।^३

१—(क) नंदी, सूत्र ४६।

(ख) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६।

२—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १, ७, १२, १४, १५।

३—अगस्त्य चूर्ण :

उभयपद निष्कर्षणं नामं दसकालियं । तस्य कालादागमं विसेलिज्जति चोद्दस-
पुल्लिकालात् । भगवतो वा पंचमातो पुरिसजुगातो, 'तत आगतः' (पाणि०
४।३।७४) इति उपत्ययः, कालं च सख्यपञ्चाहि परिहीयमाणमभिकलकयं
एव 'अधिहृत्य कृते ग्रन्थे' (पाणि० ४।३।८७) स एव उपत्ययः तस्य इय
आवेशः, दशकं अज्झयणाणं कालियं निस्सेण बिहिणा ककारलोपे कृते
दसकालियं । अह्वा वेकालियं मंगलत्वं पुब्बण्हे सत्वारंभो भवति, भगवया पुण
अज्झसेज्जंभवेणं कहमवि अवरहकाले उक्कयोगा कतो, कालातिवायविन्ध-
परहरणाय निज्जुमेव अतो विगते काले विकाले दसकमज्झयणाणं कतमिति
दसवेकालियं चउपोरिसितो सज्झायकालो तम्मि विगते वि पट्टिज्जतीति विगय
कालियं दसवेकालियं । दसमं वा वेतालियोपजातिवृत्तेहि गियमितमज्झयण-
मिति दसवेतालियं ।

इसमें 'दसवेयालिय' और 'दसकालिय' प्रसिद्ध नाम है और जहाँ तक हम जानते हैं 'दसवेतालिय' का प्रयोग अगस्त्यसिंह मुनि के सिवाय अन्य किसी ने नहीं किया है। निर्मुक्तिकार ने स्थान-स्थान पर 'दसकालिय' शब्द का प्रयोग किया है^१ और कहीं-कहीं 'दसवेयालिय' का भी।^२ जिनदास महत्तर ने केवल 'दसवेयालिय' शब्द की व्याख्या की है।^३ हरिभद्र सूरि ने 'दशकालिक' और 'दशवैकालिक' इन दोनों शब्दों का उल्लेख किया है।^४

प्रश्न यह होता है कि आगमकार ने इसका नामकरण किया या नहीं? यदि किया तो क्या?

मूल आगम में 'दशवैकालिक' या 'दशकालिक' नाम का उल्लेख नहीं है। इसकी रचना तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई थी। मनक के देहावसान के बाद शय्यम्भव इसे जहाँ में उद्भूत किया, वही अन्तर्निविष्ट कर देना चाहते थे। इसलिए सम्भव है, रचना के लिए कोई नाम न रखा हो। जब इसे स्थिर रूप दिया गया, तब आगमकार के द्वारा ही इसका नामकरण किया जाना सम्भव है।

उपयोगिता और स्थापना :

मनक ने छह मास में दशवैकालिक पढ़ा और वह समाधिपूर्वक इस संसार से चल बसा। वह श्रुत और चारित्र्य की सम्यक् आराधना कर सका, इसका आचार्य को हर्ष हुआ। आँखों में आनन्द के आँसू छलक पड़े। यशोभद्र (जो उनके प्रधान शिष्य थे) ने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्य को देखा और विनयावनत हो इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा—“मनक मेरा संसारपक्षीय पुत्र था, इसलिए कुछ स्नेह-भाव उमड़ आया। वह आराधक हुआ, यह सोच मन आनन्द से भर गया। मनक की आराधना के लिए मैंने इस आगम (दशवैकालिक) का निर्युहण किया। वह आराधक हो गया। अब इसका क्या किया जाय ?” आचार्य के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न पर संघ ने विचार किया और आखिर यही निर्णय हुआ कि इसे यथावत् रखा जाय। यह मनक जैसे अनेक मुनिगणों की आराधना

१—दशवैकालिक निर्मुक्ति, गाथा १, ७, १२, १४, १५।

२—वही, गाथा ६।

३—जिनदास कूर्णि, पृष्ठ ५।

४—बश० हारिमत्रीय टीका, पत्र १२।

का निमित्त बनेगा, इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय ।^१ इस निर्णय के पश्चात् दश-वैकालिक का वर्तमान का अध्ययन-क्रम में जोड़ा गया । महानिशीथ (अध्ययन ५, दुःखमारक प्रकरण) के अनुसार पाँचवें आरे (दुःखमकाल) के अन्त में जब अंग-साहित्य विच्छिन्न हो जाएगा, तब दुःखमह भुनि केवल दशवैकालिक के आधार पर संयम की आराधना करेंगे ।

१—वृत्त० हारिमद्रीय टीका, पत्र २८४ :

आर्णवअंशुपायं कासी सिज्जमवा तहिं पेरा ।

जसमहस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा संघे ॥३७१॥

“विचारणा संघ” इति शय्यम्मवेनात्पायुषमेनमवेत्य मयेवं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे—कालह्रासदोषात् प्रभृतसत्त्वानामिदमेवो-पकारकमतस्तिष्ठत्येतदित्येवंमृता स्थापना ।

२-दशवैकालिक के कर्त्ता और रचनाकाल

रचनाकार का जीवन-परिचय :

राजगृह में शय्यम्भव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अनेक विद्याओं का पारगामी विद्वान् था। प्रभव-स्वामी ने अपने दो साधुओं को उसकी यज्ञशाला में भेजा। साधु वहाँ पहुँचे और धर्म-लाभ कहा। आचार्य की शिक्षा के अनुसार वे बोले—“अहो कष्टमहो कष्टं, तत्त्वं न ज्ञायते परम्।” शय्यम्भव ने यह सुना और सोचा—ये उपशान्त तपस्वी असत्य नहीं बोलते। अवश्य ही इसमें रहस्य है। वह उठा और अपने अध्यापक के पास जाकर बोला—“कहिए तत्त्व क्या है ?” अध्यापक ने कहा—“तत्त्व वेद है।” शय्यम्भव ने तलवार को म्यान से निकाला और कहा—“या तो तत्त्व बतलाइए अन्यथा इसी तलवार से सिर काट डालूँगा।”

अध्यापक ने सोचा अब समय आ गया है। वेदार्थ की परम्परा यह है कि सिर काट डालने का प्रसंग आए तब कह देना चाहिए। अब यह प्रसंग उपस्थित है, इसलिए मैं तत्त्व बतला रहा हूँ। अध्यापक ने कहा—“तत्त्व आर्हन्-धर्म है।” वह आगे बढ़ा और यूप के नीचे जो अरिहन्त की प्रतिमा थी उसे निकाल शय्यम्भव को दिखाया। वह उसे देख प्रतिबुद्ध हो गया। शय्यम्भव ने अध्यापक के चरणों में वन्दना की और संतुष्ट होकर यज्ञ की सारी सामग्री उसे भेंट में दे दी। वह चला और मुनि-युगल को खोजते-खोजते वही जा पहुँचा, जहाँ उसे पहुँचना था। अपनी गर्भवती युवती पत्नी को छोड़ २८ वर्ष की अवस्था में उसने प्रभव स्वामी के पास प्रव्रज्या ले ली।

दशवैकालिक की व्याख्याओं में उनके जीवन का यह परिचय मिलता है।^१ परिशिष्ट-पूर्व (सर्ग ५) में भी लगभग यही वर्णन है। इस वर्णन के कुछेक तथ्यों के आधार पर उनके पूर्ववर्ती जीवन की स्थूल-रूपरेखा हमारे सामने आ जाती है।

१-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १४।

२-बशा० हारिमन्नीय टीका, पत्र १०, १२।

निर्यूहण या लघुकरण :

प्रस्तुत आगम के कर्त्ता शय्यम्भव सूरि माने जाते हैं।^१ निर्युक्तिकार के अनुसार यह उनकी स्वतंत्र रचना नहीं, किन्तु संकलना है। संकलना के बारे में दो विचार मिलते हैं। पहले के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का विषय पूर्वों से उद्धृत कर संकलित किया गया है।^२ दूसरी धारणा के अनुसार यह द्वादशांगी से उद्धृत हुआ है।^३ इन दोनों विचार-धाराओं के स्रोत की जानकारी का कोई साधन प्राप्त नहीं है। निर्युक्ति में इन दोनों का उल्लेख है और शेष व्याख्याकारों ने उसी का अनुगमन किया है। शय्यम्भव सूरि चतुर्दश पूर्वधर थे, इसलिए उनकी रचना को आगम माना जाता है। जयाचार्य के अनुसार चतुर्दश-पूर्वी और दशपूर्वी की वही रचना आगम हो सकती है, जो केवलज्ञानी के समक्ष की जाए।^४ इसके आधार पर उनकी कल्पना यह है कि पूर्वों के आधार पर रचित दश-वैकालिक का बृहन् कलेवर था, उसका शय्यम्भव सूरि ने लघुकरण किया है।^५ इस कल्पना का कोई स्पष्ट साहित्यिक आधार प्राप्त नहीं है। किन्तु दशवैकालिक के नियत और अनियत रूप की चर्चा में उक्त कल्पना की पुष्टि होती है। भगवान् महावीर के चौदह

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १४ :

सेरुज्जंमवं गणधरं जिणपडिमादंसणेण पडिमुद्धं ।

मणगपिअरं इसकालियस्स निज्जुहगं वंदे ॥

२—वही, गाथा १६, १७ :

आयप्पवायपुब्बा निज्जुडा होइ धम्मपन्नती ।

कम्मप्पवायपुब्बा पिडस्स उ एसणा तिबिहा ॥

सज्जप्पवायपुब्बा निज्जुडा होइ वक्कसुट्ठी उ ।

अवसेसा निज्जुडा नवमस्स उ तइयवरयुओ ॥

३—वही, गाथा १८ :

(क) बीओऽबि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।

एअं किर निज्जुडं मणगस्स अणुगहट्ठाए ॥

(ख) अगस्य चूर्णि :

बित्तिपावेसो बारसंगातो जं जतो अगुरुवं ।

४—प्रस्तोत्तर-तत्त्वबोध, १९।९, १० ।

५—(क) वही, ८।२१, २२ ।

(ख) भगवती की ओड, २५।३ डाल ४३८ का बार्तिक ।

हजार प्रकीर्णककार साधु थे और उन्होंने चौदह हजार प्रकीर्णको की रचना की ।^१ मलय-गिरि ने 'एवमाइयाइ' (नन्दी सूत्र ४६) की व्याख्या में उत्कालिक और कालिक—दोनों प्रकार के आगमों को प्रकीर्णक माना है ।^२ उत्कालिक सूत्रों की गणना में दशवैकालिक का स्थान पहला है । इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि भगवान् महावीर के समय दशवैकालिक नाम का कोई प्रकीर्णक रहा हो और शक्यम्भव सूरि ने प्रयोजनवश उसका रूपान्तर किया हो । टीका में भी इसके नियत और अनियत रूप की चर्चा का उल्लेख मिलता है । किसी ने पूछा—दशवैकालिक नियत-श्रुत है ? कारण कि ज्ञात-धर्मकथा के उदाहरणात्मक अध्ययन, श्रुति-भाषित और प्रकीर्णक श्रुत अनियत होता है । शेष सारा श्रुत प्रायः नियत होता है । दशवैकालिक नियत-श्रुत है । उसमें राजीमती और रथनेमि का अभिनव उदाहरण क्यों ? इसके समाधान में टीकाकार ने लिखा है कि नियत-श्रुत का विषय प्रायः नियत होता है, सर्वथा नहीं । इसलिए इस अभिनव उदाहरण का समावेश आपत्तिजनक नहीं है ।^३

इस प्रमाण के आधार पर जयाचार्य की कल्पना को महत्त्व दिया जा सकता है । इसका फलित यह होगा कि शक्यम्भव सूरि ने दशवैकालिक के बृहत् रूप का लघुकरण किया है । तदर्थ की दृष्टि से देखा जाए तो इन तीनों मान्यताओं के फलितार्थ में कोई अन्तर नहीं है । शक्यम्भव सूरि ने चाहे चौदह पूर्वों से या द्वादशांगी से इसे उद्भूत किया हो, चाहे इसके बृहत् रूप को लघु रूप दिया हो, इसकी प्रामाणिकता में कोई बाधा नहीं आती । निरूहण (उद्गरण) और लघुकरण ये दोनों रूपान्तर हैं । प्रामाणिकता की दृष्टि से इन दोनों प्रक्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है । प्रयोजनवश आगम-मुख्य को ऐसा अधिकार भी है ।

१—नन्दी, सूत्र ४६ :

ओहस-पइन्नगसहस्साइं मशवओ वट्ठमाणसाभिस्स ।

२—बही, सूत्र ४६ वृत्ति :

प्रकीर्णकख्याणि चाप्ययनानि कालिकोत्कालिकमेवमिमानि ।

३—वश० हारिमन्नीय टीका, पत्र ९९ :

अपरस्त्वाह—दशवैकालिकं नियतश्रुतमेव, यत उत्कम्—

णायज्जकयणाहरणा, इत्तिमासियाओ पइन्नयसुया य ।

एस होंति अणियया, णिययं पुण सेसमुवस्सन्नं ॥

तत्कथममेनबोत्पन्नमिदमुदाहरणं युज्यते इति ?, उच्यते, एवम्भूतायस्यैव नियतश्रुतेऽपि भाबावु, उत्सन्नग्रहणाच्चाबोधः, प्रायो नियतं, न तु सर्वथा नियतमेवेत्यर्थः ।

रचना का उद्देश्य :

शय्यम्भव सूरि भगवान् महावीर के चतुर्थ पट्टधर थे। वे पत्नी को गर्भवती छोड़ कर दीक्षित हुए। पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम मनक रखा गया। वह आठ वर्ष का हो गया। एक दिन उसने अपनी माँ से पिता के बारे में पूछा। माँ ने बताया—“बेटा ! तेरे पिता मुनि बन गए। वे अब आचार्य हैं और अभी-अभी चम्पा नगरी में बिहार कर रहे हैं।” मनक ने माँ से अनुमति ली और चम्पा नगरी जा पहुँचा। आचार्य शोध जाकर आ रहे थे, बीच में ही मनक मिल गया। आचार्य के मन में कुछ स्नेह का भाव जागा और पूछा—“तू किसका बेटा है ?” “मेरे पिता का नाम शय्यम्भव ब्राह्मण है”, मनक ने प्रसन्न मुद्रा में कहा। आचार्य ने पूछा—“अब तेरे पिता कहाँ हैं ?” मनक ने कहा—“वे अब आचार्य हैं और इस समय चम्पा में हैं।” आचार्य ने पूछा—“तू यहाँ क्यों आया ?” मनक ने उत्तर दिया—“मैं भी उनके पास प्रव्रज्या लूँगा” और उसने पूछा—“क्या तुम मेरे पिता को जानते हो ?” आचार्य ने कहा—“मैं केवल जानता ही नहीं हूँ किंतु वह मेरा अभिन्न (एक शरीरभूत) मित्र है। तू मेरे पास ही प्रव्रजित हो जा।” उसने यह स्वीकार कर लिया। संभव है कि शय्यम्भव ने सांग रहस्य उसे समझा दिया और पिता-पुत्र के सम्बन्ध को प्रकट करने का निषेध कर दिया। आचार्य म्यान पर चले आए। उसे प्रव्रजित किया। आचार्य ने विशिष्ट ज्ञान से देखा—“यह अल्पायु है। केवल छह मास और जीएगा। मुझे इसमें विनिष्ट आराधना करनी चाहिए”—यह मोक्ष उन्होंने मनक के लिए एक नए आगम का निर्माण करना चाहा। विशेष प्रयोजन होना पर चतुर्दश-पूर्वी और अपश्चिम दशपूर्वी निर्यूहण कर सकने ह। आचार्य ने सोचा—“मेरे सम्मुख यह विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ है। इसलिए मुझे भी निर्यूहण करना चाहिए।”^१ यही प्रेरणा दशवैकालिक के वर्तमान रूप का निर्मित बनी।

रचना-काल :

भगवान् महावीर के निवाण के पश्चात् सुधर्मा स्वामी बीस वर्ष तक जीवित रहे।^२ उनके उत्तराधिकारी जम्बू स्वामी थे। उनका आचार्य-गद चौबालीय वर्ष रहा।^३ तीसरे

१-दश० हारिमद्वीय टीका, पत्र १२ :

तं चउदसुखी कम्हिंवि कारणे समुप्पन्ने जिज्जुहति, वसुखी पुण अपक्खिमा
अवसमेव जिज्जुहइ, ममं पि इमं कारणं समुप्पन्नं तो अहमपि जिज्जुहांम,
ताहे आढत्तो जिज्जुहइं ।

२-पट्टावलि समुच्चय (तपागच्छ पट्टावली), पृष्ठ ४२ :

श्री वीराद्विशल्या वर्षेः सिद्धि गतः ।

३-वही, पृष्ठ ४२ : श्रीविरात् चतुःपठिवर्षेः सिद्धः ।

आचार्य प्रवर स्वामी हुए। उनका आचार्य-काल म्यारह वर्ष का है। प्रभव स्वामी ने एक दिन अपने उत्तराधिकारी के बारे में सोचा। अपने गण और संघ को देखा तो कोई भी शिष्य आचार्य-पद के योग्य नहीं मिला। फिर गृहस्थों की ओर ध्यान दिया। राजगृह में शय्यम्भव ब्राह्मण को यज्ञ करते देखा। वे उन्हें योग्य जान पड़े। आचार्य राजगृह आए। शय्यम्भव के पास साधुओं को भेजा। उनसे प्रेरणा पा वे आचार्य के पास आए, सम्बुद्ध हुए और प्रव्रजित हो गए।

प्रभव स्वामी का आचार्य-काल म्यारह वर्ष का है^१ और शय्यम्भव के मुनि-जीवन का काल म्यारह वर्ष का है। वे अठाईस वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में रहे, म्यारह वर्ष मुनि-जीवन में रहे, तेईस वर्ष आचार्य या युग-प्रधान रहे। इस प्रकार ६२ वर्ष की आयु पाल कर वीर-निर्वाण सं० १८ में दिवंगत हुए।^२ उक्त विवरण से जान पड़ता है कि प्रभव स्वामी के आचार्य होने के थोड़े समय पश्चात् ही शय्यम्भव मुनि बन गए थे, क्योंकि उनका आचार्य-काल और शय्यम्भव का मुनि-काल समान है—दोनों की अवधि म्यारह-म्यारह वर्ष की है। वीर-निर्वाण के ३६ वें वर्ष में शय्यम्भव का जन्म हुआ और ६४ वें वर्ष तक घर में रहे। मुनि होने के ८ या ८½ वर्ष के पश्चात् मनक के लिए दशवैकालिक का निर्यूहण किया।^३ इस प्रकार दशवैकालिक का रचना-काल वीर-निर्वाण सम्वत् ७२ के आसपास उपलब्ध होता है और यह प्रभव स्वामी की विद्यमानता में निर्यूह किया गया, यह उक्त काल-गणना से स्पष्ट है।

दशवैकालिक का रचना-काल डा० विन्टरनिट्ज ने वीर-निर्वाण के १८ वर्ष बाद माना है।^४ प्रो० एम० वी० पटवर्धन का भी यही मत रहा है।^५ किन्तु यह काल-निर्णय पट्टाबली के कालानुक्रम से नहीं मिलता।

१—पट्टाबली समुच्चय (प्र० भा) (तपागच्छ पट्टाबली), पृष्ठ ४३ :

व्रतपर्याये एकादश युगप्रधानपर्याये चेति ।

२—वही, पृष्ठ ४३ :

स चाष्टाविंशतिवर्षाणि गृहस्थपर्याये, एकादश व्रते, त्रयोविंशतिर्युगप्रधानपर्याये चेति सर्वायुर्द्विषष्टिवर्षाणि परिपाल्य श्रीवीराबट्टनवतिवर्षातिक्रमे स्वर्गभाक् ।

३—हारिमयी टीका, पत्र ११, १२ :

जया सो अट्टवरित्तो जाओ ताहे सो मातरं पुच्छइ को भम पिओ ?, सा भणइ तब पिओ पण्डइओ, ताहे सो बारओ नासिऊणं पिउसणासं पट्ठिओ .. सो पण्डइओ ।

४—A History of Indian Literature, Vol. II, page 47, F. N 1

५—The Daśavaikālika Sūtra . A Study, page 9.

३-रचना-शैली

दशवैकालिक रचना की दृष्टि से वास्तव में ही सूत्र है। पारिभाषिक शब्दों में अर्थ को बहुत ही संक्षेप में गूँथा गया है। मनक को थोड़े में बहुत देने के उद्देश्य में इसकी रचना हुई, उसमें रचनाकार बहुत ही सफल हुए हैं। विषय के वर्गीकरण की दृष्टि से भी इसका रचनाक्रम बहुत प्रगस्त है। आदि से अन्त तक धर्म और धार्मिक की विशेषता का निरूपण है। उसे पढ़ कर यह सहजतया बुद्धिगम्य हो सकता है कि धार्मिक धर्म का स्पर्श कैसे करे और अधर्म से कैसे बचे ?

इसका अधिकांश भाग पद्यात्मक है और कुछ भाग गद्यात्मक। गद्य भाग के प्रारम्भ में उत्तराध्ययन की शैली का अनुसरण है।^१ गद्य-भाग के बीच-बीच में गद्योक्त विषय का संग्रह पद्यों में किया है।^२ ऐसी शैली उपनिषदों में रही है।^३

१-(क) उत्तराध्ययन, २९।१ :

सुयं मे आउसं ! तेनं भगवया एवमवस्त्रायं—इह खलु सम्मत्तपरशकमे नाम अङ्गयणे समणेनं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइय ।

(ख) दशवैकालिक, ४। सूत्र १ :

सुयं मे आउसं ! तेनं भगवया एवमवस्त्रायं—इह खलु छज्जीवणिया नामङ्गयणं समणेनं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयवस्त्राया सुपन्नता ।

(ग) उत्तराध्ययन, १६। सूत्र १ :

सुयं मे आउसं ! तेनं भगवया एवमवस्त्रायं—इह खलु येरेहि भगवन्तेहि वस वस्मचेरसमाहिठाणा पन्नता ।

(घ) दशवैकालिक, ९।४। सूत्र १ :

सुयं मे आउसं ! तेनं भगवया एवमवस्त्रायं—इह खलु येरेहि भगवन्तेहि चतारि विणयसमाहिठाणा पन्नता ।

२-इशाकालिक, ९।४ :

३-अस्नोपनिषद्, ६।५, ६ :

स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेव श्लोकः—

अरा इव रचनानी कला यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद- (यथा) मा वो मृत्युः परिष्यथा इति ॥

विषय को स्पष्ट करने के लिए उपमाओं का भी बखूबी प्रयोग किया है। रथनेमि और राजीमती की घटना के सिवाय अन्य किसी घटना का इसमें स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कहीं-कहीं घटना के संकेत अवश्य दिए हैं। ५।२।५ में क्रिया व पुरुष का आकस्मिक परिवर्तन पाठक को सहसा विस्मय में डाल देता है। यदि चूर्णिकार ने इस श्लोक की पृष्ठभूमि में रही हुई घटना का उल्लेख न किया होता, तो यह श्लोक व्याकरण की दृष्टि से अवश्य ही विमर्शनीय बन जाता।

इसी प्रकार १।४ में हुआ उत्तमपुरुष का प्रयोग भी सम्भव है किसी घटना से सम्बद्ध हो, पर किसी भी व्याख्या में उसका उल्लेख नहीं है।

अनुष्टुप् श्लोक वाले कुछ अध्ययनों के अंत भाग में उपजाति आदि वृत्त रख कर आचार्य ने इसे महाकाव्य की कोटि में ला रखा (देखिए अध्ययन ६, ७ और ८)। कहीं-कहीं प्रश्नोत्तरात्मक-शैली का भी प्रयोग किया गया है (देखिए ४।७-८)। परन्तु ये प्रश्न आगमकर्त्ता ने स्वयं उपस्थित किए हैं या किसी दूसरे व्यक्ति ने, इसका कोई समाधान नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि मुमुक्षु कैसे चले ? कैसे खड़ा रहे ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए और कैसे बोले ?—ये प्रश्न आचार्य के सामने आते रहे हों और रचना के प्रसंग आने पर आचार्य ने उनका स्थायी समाधान किया हो।

गृहस्थ और मुनि के चलने-बोलने आदि में अहिंसा की मर्यादा का बहुत बड़ा अन्तर होता है, इसलिए प्रव्रज्या ग्रहण के अनन्तर आचार्य नव-दीक्षित श्रमण को चलने-बोलने आदि की विधि का उपदेश देते हैं। भगवान् महावीर ने महाराज श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार को दीक्षित कर आचार-गोचर और विनय का उपदेश देते हुए कहा—
“देवानुप्रिय ! अब तुम श्रमण हो, इसलिए तुम्हें युग-मात्र भूमि को देख कर चलना चाहिए (तुलना कीजिए ५।१।३), निर्जीव-भूमि पर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़ा रहना चाहिए; (मिलाइए ८।११, १३), जीव-जन्तु रहित भूमि को देख कर, प्रमार्जित कर बैठना चाहिए (तुलना कीजिए ८।५, १३), जीव-जन्तु रहित भूमि पर सामायिक या चतुर्विंशस्तव का उच्चारण और शरीर का प्रमार्जन कर मोना चाहिए (मिलाइए ८।१३) साधर्मिकों को निमन्त्रण दे समभाव से खाना चाहिए (तुलना कीजिए ५।१।६४-६६, १०।६), हित, मित और निरवद्य भाषा बोलनी चाहिए (देखिए ७ वाँ अध्ययन) और संयम में सावधान रहना चाहिए। इसमें थोड़ा भी प्रमाद नहीं होना चाहिए।”

१—जाताधर्मकथा, १। सू० ३०:

तए नं समणे भगवं महावीरे मेहं कुमारं त्वमेव पञ्चाङ्गे सयमेव आचार जाव
धम्मद्वयसई, एवं वेवागुप्पिमा ! संत्तं चिद्धिक्कं चिसीयणं तुयद्धियणं
मुजियणं मासियणं एवं उट्ठाय उट्ठाग्र प्राप्तेहिं सुएहिं अभिहिं कत्तेहिं संक्रमणे
संक्रमियणं अस्तिं च न अट्ठे नो पमादेयणं ।

आचार्य शय्यम्भव ने इस सूत्र के द्वारा मनक को बही उपदेश दिया, जो भगवान् ने मेघकुमार को दिया था। दूसरे शब्दों में यो कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर नव-दीक्षित श्रमणों को जो प्रारम्भिक उपदेश देते थे, उसे आचार्य शय्यम्भव ने प्रशस्त शैली में संकलित कर दिया। उक्त श्लोको के अगले अध्ययनों में आचार-संहिता की आधारभूत इन्हीं (चलने-बोलने आदि की) प्रवृत्तियों का विस्तार है। उत्तराध्ययन,^१ धम्मपद,^२ महाभारत^३ आदि के लक्षण-निरूपणात्मक-अध्यायो में व्यवस्थित शैली का जो रूप है, वह दशवैकालिक में भी उपलब्ध होता है (देखिए ६।३ में पूज्य और १०वें में भिक्षु के लक्षणों का वर्गीकरण)।

इसकी रचना प्रायः सूत्र रूप है, पर कही-कही व्याख्यात्मक भी है। अहिंसा, परिग्रह आदि की बहुत ही नये-नूतन शब्दों में परिभाषा और व्याख्या यहाँ मिलती है (देखिए ६।८, ६।१०)।

कही-कही अनेक श्लोको का एक श्लोक में संक्षेप किया गया है। इसका उदाहरण आठवें अध्ययन का २६ वाँ श्लोक है—

कण्णसोक्खेहि सद्देहि पेम्मं नाभिणिवेसए।

दारुणं कक्कसं फासं काएण अहियासए।

यहाँ आदि और अन्त का अर्थ प्रतिपादित किया गया है। पूर्ण रूप में उसका प्रतिपादन पाँच श्लोको के द्वारा हो सकता है। निशीथभाज्य चूर्णि^४ तथा बृहद्कल्पभाज्य वृत्ति^५ में इस आशय का उल्लेख और पाँच श्लोक मिलते हैं—

कण्णसोक्खेहि सद्देहि पेम्मं नाभिणिवेसए।

दारुणं कक्कसं सद्दे सोएणं अहियासए॥

चक्खुकतेहि रुद्धेहि पेम्मं नाभिणिवेसए।

दारुणं कक्कसं रुद्धं चक्खुणा अहियासए॥

घाणकतेहि गंधेहि पेम्मं नाभिणिवेसते।

दारुणं कक्कसं गंधं घाणेणं अहियासए॥

१-१५ वें में भिक्षु और २५ वें में ब्राह्मण के लक्षणों का निरूपण।

२-ब्राह्मण वर्ण। यह मौलिक नहीं, किन्तु संकलित है।

३-सान्ति पर्व, मोक्षार्च, अध्याय २४५।

४-निशीथभाज्य चूर्णि, भाग ३, पृष्ठ ४८३।

५-बृहद्कल्प, भाग २, पृष्ठ २७३, २७४।

जीहकतेहि रसेहि पेम्म नाभिणिवेसते ।
 दारुणं कक्कसं रसं जीहाए अहियासए ॥
 मुहफासेहि कतेहि पेम्म नाभिणिवेसए ।
 दारुणं कक्कसं फासं काएणं अहियासए ॥

यद्यपि आस-मुख की वाणी में विधि-नियेध के प्रयोजन का निरूपण आवश्यक नहीं होता, उसका क्षेत्र तर्कवाद है, किन्तु प्रस्तुत आगम में नियेध के कारणों को बहुत सूक्ष्म दृष्टि से समझाया गया है (देखिए अध्ययन ५, ६ और १०) ।

थोड़े में इसकी शैली न तो गद्य-व्यङ्गात्मक रचना-काल जैसी प्राचीन, संक्षिप्त और रूपक-मय है और न पूर्ण आधुनिक ही । मध्य-कालीन आगमों की रचना-शैली से कुछ भिन्न होते हुए भी अधिकांश में अभिन्न है ।

४-व्याकरण-विमर्श

आगमिक प्रयोगों को व्याकरण की कसौटी से कसा जाय तो वे सब के सब खरे नहीं उत्तरेंगे। इसीलिए प्राकृत-व्याकरणकारों ने आगम के अलाक्षणिक प्रयोगों को आर्ष-प्रयोग कहा है।^१ प्रस्तुत आगम में अनेक अलाक्षणिक प्रयोग हैं।

परन्तु एक अक्षम्य भूल से बचने के लिए हमें एक महत्त्वपूर्ण विषय पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह है कि उत्तर-कालीन व्याकरण की कसौटी में पूर्ववर्ती प्रयोगों को कसने की मनोवृत्ति निर्दोष नहीं है। भाषा का प्रवाह और उसके प्रयोग काल-परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। उन्हें कोई भी एक व्याकरण बांध नहीं सकता। आगमिक प्रयोगों का मुख्य आधार पूर्वान्गत शब्द-शाम्भ्र रहा है। उसके कुछ एक संकेत आज भी आगमों में मिलते हैं। स्थानांग में शृद्ध-वचन-अनुयोग के दस प्रकार बतलाए हैं। उन पर ध्यान देने में पता चलता है कि जिन आगमिक प्रयोगों का उत्तर-कालीन व्याकरण की दृष्टि में अलाक्षणिक प्रयोग कहते हैं, उन्हें आगमकार शृद्ध-वाक्-अनुयोग कहते हैं।^२ 'वत्थगन्धमर्लकार' (२।२) की व्याख्या में हरिभद्र मूरि ने 'मर्लकार' के 'म' को अलाक्षणिक माना है।^३ किन्तु मकरानुयोग की दृष्टि में यह प्रयोग आगमिक व्याकरण या तात्कालिक प्रयोग-परिपाटी में सम्मन है, इसलिए अलाक्षणिक नहीं है।^४ इसी प्रकार विभक्ति और वचन का संक्रमण भी सम्मन है।^५ पाणिनि और हेमचन्द्र ने इस व्यत्यय को अपने व्याकरणों में भी स्थान दिया है।^६ आगमिक प्रयोगों में विभक्ति रहित भी प्रयोग मिलते हैं—'गिण्हाहि साहुगुण मुचम्माह' (६।३।११)—यहाँ गुण शब्द

१-हेमसम्भानुशासन, आर्षम् ८।१।३

२-स्थानांग, १०।७४४ :

इसविधे मुदुवाताणुओगे पन्तस्ते संजहा—बंकारे (१), मंकारे (२), पिकारे (३), सेतंकारे (४), सातंकारे (५), एगस्ते (६), पुघस्ते (७), संजूहे (८), संकामिते (९), मिन्ने (१०)।

३-हारिमद्रीय टीका, पत्र ९१ :

अनुस्वारोऽलाक्षणिकः।

४-स्थानांग, १०।७४४।

५-इशबैकालिक, भाग २ (मूल, सार्ध, सटिप्पण) पृष्ठ २७, टिप्पण ११।

६-हेमसम्भानुशासन, ८।४।४४७

बन्धोऽथाः।

द्वितीया का बहुवचन है (गृहाण साधुगुणान्) पर इसकी विभक्ति का निर्देश नहीं है।
आचार्य क्लृप्तियोरि ने इस प्रकार के विभक्ति-लोप को 'आर्ष' कहा है।^१

देशी शब्दों के प्रयोग भी यत्र-तत्र हुए हैं। हमने उनकी संस्कृत छाया नहीं की है।
कही-कही टिप्पणियों में तदर्थक संस्कृत शब्द का उल्लेख किया है।

जिस प्रकार वैदिक प्रयोग लौकिक संस्कृत से भिन्न रहे हैं, उसी प्रकार आगमिक प्रयोग भी लौकिक प्राकृत से भिन्न रहे हैं। उन्हें सामयिक प्रयोग कहा जा सकता है। मलयगिरि के अनुसार जो शब्द अन्वय-रहित और केवल समय (आगम) में ही प्रसिद्ध हो, वह सामयिक कहलाता है।^२ प्रस्तुत आगम में 'पिण्ड'^३ और 'परिहरन्ति'^४ आदि सामयिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका यथाम्थान उल्लेख किया गया है। सामयिक नाम का आधार सम्भवतः स्थानांग का सामयिक व्यवसाय है। वहाँ व्यवसाय के तीन प्रकार किए हैं—लौकिक, वैदिक और सामयिक।^५

व्याकरण की दृष्टि में मीमांसनीय शब्दों को हमने प्यारह भागों में विभक्त किया है—मंथि, कारक, वचन, समास, प्रत्यय, लिंग, क्रिया और अर्द्ध-क्रिया, क्रिया-विशेषण, आर्ष-प्रयोग, विशेष विमर्श तथा क्रम-भेद। उनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है—

१-सन्धि

एमेए (१।३)

इसमें 'एव' और 'एते'—ये दो शब्द हैं। अगस्त्य चूर्ण के अनुसार श्लोक-रचना की दृष्टि से 'एव' के 'व' का लोप हुआ है।^६ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'एवमेव' रूप 'एमेव' बनता है।^७ संभव है 'एमेव' ही आगे चल कर 'एमेए' बन गया हो।

१-पिण्ड नियुक्ति, गाथा १ वृत्ति :

इंगालधूमकारण—सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात् ।

२-बह्वी, गाथा ६ वृत्ति :

गोष्णं समयकर्मणा—तथा समयजं यदन्वय-रहितं समय एव प्रसिद्धं यथौवनस्य-प्राप्तिकेति ।

३-वशवैकालिक, भाग २ (मूल, सार्ध, सटिप्पण) पाँचवें अध्याय का आमुख, पृष्ठ १९३, १९५-१९६ ।

४-वशवैकालिक ६।१९ ।

५-स्थानांग, ३।३।१८५ :

तिबिहे ववसाए पन्नेसे तंजहा—लोइए बेइए सामइए ।

६-अगस्त्य चूर्ण : बकार लोपो सितोपायाणुलोमेवं ।

७-हेमसब्दानुशासन, ८।१।२७१ :

यावस्तावज्जीवितावर्तमानाष्टप्रावारक—वैकुण्ठैकैवैवः ।

बीधं (८।३१)

प्राकृत में कही-कही एक पद में भी संधि हो जाती है। इसी के अनुसार यहाँ 'विद्भो' का 'बीधो' बना है।^१

लृत्व का दीर्घीकरण—

अन्ययरागवि (६।१८)

इसमें रकार दीर्घ है।

बहुनिबद्धिमा फला (७।३३)

इसमें मकार दीर्घ है।

२-कारक

अण्ठन्वा (२।७)

इसका प्रयोग कर्तृवाचक बहुवचन में हुआ है, पर उसे कर्मवाचक बहुवचन में भी माना जा सकता है। इस स्थिति में वह वस्त्र आदि वस्तुओं का विगेषण होगा।^२

अण्ठयणं धम्मपण्णसी (४। सूत्र१)

अध्ययन होने से—अध्ययन की प्राप्ति के द्वारा चित्त-विशुद्धि का हेतु होने से, धर्म-प्राप्ति होने से—धर्म की प्रज्ञापना के द्वारा चित्त-विशुद्धि का हेतु होने से—ये दोनों हेतु हैं। निमित्त, कारण और हेतु में प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं, इसलिए यहाँ दोनों शब्दों में हेतु में प्रथमा विभक्ति है।^३

अन्यत्र सत्त्वपरिणएणं (४। सूत्र४)

अन्यत्र शब्द के योग में पंचमी विभक्ति होती है। जैसे—अन्यत्र भीष्माद् गांगेयाद्, अन्यत्र च हनूमत । अतः इसका संस्कृत रूप होगा—अन्यत्रशान्त्तपरिणतान् ।

तत्स (४। सूत्र१०)

यहाँ सम्बन्ध या अवयव अर्थ में षष्ठी विभक्ति है।

१-हेमचन्द्रानुशासन, ८।१।५ :

पदयोः सन्धिर्वा ।

२-दशवैकालिक, भाग २ (मूल, सार्य, सटिप्पण), पृष्ठ २६

३-हारिमिश्रीय टीका, पत्र १३८ :

निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां (विभक्तीनां)

प्रायो दर्शनमिति वचनान् हेतौ प्रथमा ।

४-वही, पत्र १४४ :

सम्बन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी ।

विभक्ति-विहीन—

इच्छेत् (२।४)

यहाँ 'एष' शब्द के अनुस्वार का लोप हुआ है ।^१

कारणमुष्मन्ने (५।२।३)

यहाँ कारण में विभक्ति का निर्देश नहीं है । सममी के स्थान में मकार अलाक्षणिक है ।

व्यत्यय—

इच्छेत्ति छक्त् जीबनिकायाणं (४।मूत्र २)

यहाँ सममी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है ।^२

अन्नेन भग्नेण (५।१।६)

यहाँ सममी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है ।^३

बीएषु हरिणेषु (५।१।५।७)

यहाँ तृतीया के अर्थ में सममी विभक्ति है ।

महिं (६।०।४)

यहाँ सममी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है ।

वीक्ष्य (७।०।८)

यहाँ चतुर्थी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है ।

भोगेसु (८।३।४)

यहाँ पंचमी के अर्थ में सममी विभक्ति है ।^४

१-हेमशब्दानुशासन, ८।१।२९ :

मांसावेर्षा अनेन 'एष' शब्दस्य अनुस्वारलोपः ।

२-हारिमञ्जरी टीका, पत्र १४३ :

सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी ।

३-वही, पत्र १६४ :

छान्वसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया ।

४-वही, पत्र २३३ :

भोगेभ्यो कथैकहेतुभ्यः ।

बुद्धवयणे (१०।६)

यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है ।^१

तत्स (चू० २।३)

यहाँ पंचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है ।^२

गुणयो समं (चू० २।१०)

यहाँ तृतीया के अर्थ में पंचमी विभक्ति है ।^३

कि मे कइं (चू० २।१२)

यहाँ 'मे' में तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है ।^४

३—वचन

जे न मुंजन्ति न से चाइ सि बुज्जइ (२।२)

'भुजन्ति' बहुवचन है और 'मे चाइ' एकवचन । टीकाकार बहुवचन एकवचन की असंगति देख कर उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—सूत्र की गति—रचना विचित्र प्रकार की होने में तथा मागधी का संस्कृत में विपर्यय भी होता है, इसलिए, ऐसा हुआ है ।^५

'मे चाइ' यहाँ बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग हुआ है—यह व्याख्याकारों का अभिमत है । अगस्त्यमिह स्पष्टि ने बहुवचन के स्थान में एकवचन का आदेश माना है ।^६ जिनदास महन्तर ने एकवचन के प्रयोग का हेतु आगम रचना-शैली का वैचित्र्य

१—हारिमन्नीय टीका, पत्र २६६ :

बुद्धवचन इति तृतीयार्थे सप्तमी ।

२—वही, पत्र २७९

तस्येति पञ्चम्यर्थे षष्ठी ।

३—वही, पत्र २८२ :

गुणतः समं वा तृतीयार्थे पंचमी गुणैस्तुल्यं वा ।

४—वही, पत्र २८३ :

कि मे कृतमिति छान्दस्तत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी ।

५—वही पत्र ९१ :

कि बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशः ?, विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययस्य नवत्येवेति कृत्वा ।

६—अगस्त्य बूर्णि :

बहुवचनस्तस्याने एगवचनमादिष्टं ।

सुखमुहोच्चारण और ग्रन्थ-लाघव माना है ।^१ हरिभद्र ने वचन-परिवर्तन का कारण रचना-शैली की विचित्रता के अतिरिक्त विपर्यय और माना है ।^२ प्राकृत में विभक्ति और वचन का विपर्यय होता है ।

अभिहृडाधि (३।२)

यह शब्द बहुवचनांत है । अभिहृत के स्वग्राम-अभिहृत, परग्राम-अभिहृत आदि प्रकारों की सूचना देने के लिए ही बहुवचन का प्रयोग किया गया है ।

गिम्हेसु (३।१२)

ग्रीष्म-ऋतु में यह कार्य (आनापना) प्रति वर्ष करणीय है, इसलिए इसमें बहुवचन है ।^३

मन्ये (६।१८)

प्राकृत शैली में यहाँ बहुवचन में एकवचन का प्रयोग है और साथ-साथ पुरुष-परिवर्तन भी है ।^४

इसिणा (६।४६)

चूर्णिद्वय के अनुसार यह तृतीया का एकवचन है ।^५ टीकाकार के अनुसार षष्ठी का बहुवचन ।^६

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ८२ :

विचित्तो सुतनिर्बन्धो भवति, सुहृमुहोच्चारणत्वं गंयलाघवत्वं च ।

२—हारिमहोदय टीका, पत्र ९१ :

देक्षिए—पृ० २६ पा० टि० ५ ।

३—वही, पत्र ११६ :

अन्याहुतानि बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिशीवादिभेदव्यापनार्थम् ।

४—वही, पत्र ११९ :

ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थम् ।

५—वही, पत्र १९८ :

‘मन्ये’ मन्यन्ते प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थकरणवधराः ।

६—(क) अगस्त्य चूर्णि : इसिणा—साधुणा ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२७ : इसिणा नाम साधुणा ।

७—हारिमहोदय टीका, पत्र २०३ :

ऋषीणां—साधूनाम् ।

४-समास

पञ्चाश्वपरिज्ञाया (३।११)

संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—‘पञ्चाश्वपरिज्ञाताः’ और ‘परिज्ञातपञ्चाशवाः’ । टीकाकार का अभिमत है कि ‘आहिताभ्यादे’ यह आकृति गण है और इसमें निष्ठा-प्रत्यय का पूर्व निपात नहीं होता । अतः प्रथम रूप निष्पन्न होता है । दूसरा रूप सर्वसम्मत ही है ।^१

परीषहरिपुद्गता (३।१३)

प्राकृत में पूर्वापरपद-नियम की व्यवस्था नहीं है । संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—‘परीषहरिपुद्गता’ और ‘दान्तपरीषहरिपवः’ । ‘आहिताभ्यादे’—इसमें निष्ठा-प्रत्यय का पूर्वनिपात नहीं होता । अतः प्रथम रूप निष्पन्न होता है और पूर्व-निपात करने पर दूसरा रूप ।^२

५-प्रत्यय

कीयणङ् (३।१०)

यहाँ ‘कीय’ शब्द में भाव में निष्ठा प्रत्यय है ।^३

अयंपिरो (५।१।०३)

मीलाध्वर्यस्येः—इस सूत्र से ‘डर’ प्रत्यय हुआ है । संस्कृत में इसके स्थान पर ‘तृन्’ प्रत्यय होता है । हरिभद्र सूरि ने इसका संस्कृत रूप ‘अजल्पन्’ दिया है ।

आहारमइयं (८।२८)

यहाँ ‘मइय’ मयट् प्रत्यय के स्थान में है ।^४

१-हारिमन्त्रीय टीका, पत्र ११८,

पञ्चाशवाः परिज्ञाता येस्ते पञ्चाश्वपरिज्ञाताः, आहिताभ्यादेराकृतिगणत्वान्न निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव, परिज्ञातपञ्चाशवा इति वा ।

२-वही, पत्र ११९ :

परीषहा एव रिपवः, दान्ताः येस्ते परीषहरिपुद्गताः, समासः पूर्वबन् न प्राकृते पूर्वापरपद-नियमव्यवस्था ।

३-वही, पत्र १६ :

क्रीतकृतं-क्रयणं—क्रीतं, नावे निष्ठा प्रत्ययः ।

४-हेमशम्भानुशासनः ८।२।१४५ ।

५-पादपसदमहृणव, पृष्ठ ८१८ ।

६-लिङ्ग

पंचनिगहणा वीरा (३।११)

‘निगहणा’ इसमें ल्युट् (अनट्) प्रत्यय कर्त्ता में हुआ है, अतः यह पुल्लिङ्ग है ।^१

लिङ्ग-व्यत्यय—

अण (८।४७)

यहाँ स्त्रीलिङ्ग ‘यया’ के स्थान पर पुल्लिङ्ग ‘येन’ है ।

मयाणि सम्बाणि (१०।१६)

यहाँ पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुसंक लिङ्ग है ।

७-क्रिया और अर्द्धक्रिया

लम्बामो...उबहम्मई (१।४)

यहाँ पहली क्रिया का प्रयोग भविष्यत् काल और दूसरी का वर्तमान काल में किया गया है । उससे उस त्रैकालिक नियम की सूचना दी गई है कि मुनि को सर्वदा यथाकृत भोजन लेना चाहिए ।^२

अज्ञमाएज्जा (४ सू०११)

प्राकृत शैली के आभार पर टीकाकार ने यहाँ पुरुष का व्यत्यय माना है—प्रथम-पुरुष के स्थान में उत्तमपुरुष माना है ।^३

भुंजमाणाणं (५।१।३८)

भुज् धातु के दो अर्थ हैं—पालना और खाना । प्राकृत में घातुओ के परस्मै ओग आत्मने पद की व्यवस्था नहीं है, इसलिए संस्कृत में ‘भुंजमाणाण’ शब्द के संस्कृत रूपान्तर दो बनते हैं—(१) ‘भुंजतो’ और (२) ‘भुजानयोः’ ।

१-हारिमन्नीय टीका, पत्र ११९ :

कर्त्तरि ल्युट् ।

२-वही, पत्र ७२ :

वर्तमानैव्यक्तालोपन्यासस्त्रैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थः ।

३-वही, पत्र १४५ :

प्राकृतशैल्या छान्दस्तत्वात् ‘तिङां तिङो भवन्ती’ति न्यायात् नैव स्वयं प्राणिनः अतिपातयामि ।

सिया (६।१८)

अगस्त्यसिंह स्वविर ने 'सिया' को क्रिया माना है ।^१ जिनदास महत्तर और हरिभद्र ने 'सिया' का अर्थ कदाचित् किया है ।^२

चारंति परिहरंति (६।१९)

ये दोनो सामयिक (आगम-प्रसिद्ध) धातुएँ हैं ।

परिगृहे (६।२१)

चूर्णिकार ने 'परिगृहे' को क्रिया माना है ।^३ टीकाकार ने इसे सप्तमी विभक्ति का रूप माना है ।^४

छन्नंति (६।५१)

चूर्णिद्वय के अनुसार वह धातु 'क्षुण्णिंसायाम्' है ।^५ टीकाकार ने 'क्षिप्यति' पाठ मान कर उसके लिए संस्कृत धातु 'क्षिप्यन्तु प्रेरणे' का प्रयोग किया है ।^६

गच्छामो (७।६)

यहाँ 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'—इस सूत्र के अनुसार निकट भविष्य के अर्थ में वर्तमान विभक्ति है ।^७

१—अगस्त्य चूर्णि :

सियाविति भवेत् भवेज्ज ।

२—(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२० :

सिया कदापि ।

(ख) हारिमद्वीप टीका, पत्र १९८ :

यः स्यात्—यः कदाचित् ।

३—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२२ :

'संरक्षण परिगृहो' नाम संजमरक्षणणिमित्तं परिगृह्णति ।

४—हारिमद्वीप टीका, पत्र १९९ ।

५—(क) अगस्त्य चूर्णि

छन्नंति क्षुण्णिंसायामिति हिंसिज्जति ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२८ :

छण्णसदो हिमाए वट्टइ ।

६—हारिमद्वीप टीका, पत्र २०४ :

क्षिप्यन्ते—हिंस्यन्ते ।

७—मिश्रसम्प्रदायानुशासन, ४।४।७६ ।

लब्धुं (८।१)

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया^१ (क्त्वा प्रत्यय) का और जिनदास चूर्णि के अनुसार यह 'तुम्' प्रत्यय का रूप है ।^२

अहिद्रुण (८।६१)

टीका में 'अहिद्रुण' का संस्कृत रूप 'अविष्टाता' है । किन्तु 'तव' आदि कर्म है, इसलिए यह 'अहिद्रा' धातु का रूप होना चाहिए ।

८-क्रिया-विशेषण

अयं (५।१।६)

यह 'परक्कमे' क्रिया का विशेषण है ।^३

निउणं (६।८)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'निउणं' शब्द 'दिद्रु' क्रिया का विशेषण है ।^४ जिनदास चूर्णि^५ और टीका^६ के अनुसार 'निउणा' मूल पाठ है और वह 'अहिमा' का विशेषण है ।

९. आर्ष-प्रयोग

वत्थगंधमलंकारं (७।२)

यहाँ गंध का अनुस्वार अलाक्षणिक है ।^७

१-(क) अगस्त्य चूर्णि :

लब्धुं पाचिऊण ।

(ख) हारिमन्नीय टीका, पत्र २२७ .

लब्धुवा प्राप्य ।

२-जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २७१ :

(लब्धुं) प्रासये ।

३-हारिमन्नीय टीका, पत्र १६४

यतमिति क्रियाविशेषणम् ।

४ अगस्त्य चूर्णि :

निपुणं सव्यपाकारं सव्यसत्तगता इति ।

५-जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २१७ :

अहिता जिणसासणे निउणा..... ।

६-हारिमन्नीय टीका, पत्र १९६

निपुणा आभाकर्मविपरिभोगतः कृतकारिताविपरिहारेण सूक्ष्मा ।

७-बही, पत्र ९१ .

अनुत्वारोऽलक्षणिकः ।

परिष्वयंतो (२।४)

अगस्त्यसिंह स्वविर ने 'परिष्वयंतो' के अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है।^१ वैकल्पिक रूप में इसे मन के साथ जोड़ा है।^२ जिनदास महत्तर 'परिष्वयंतो' को प्रथमा का एकवचन मानते हैं और अगले चरण से उसका सम्बन्ध जोड़ने के लिए 'तस्स' का अध्याहार करते हैं।^३

कङ्कुअं (४।१-६)

यहाँ अनुस्वार अलाक्षणिक है।^४

लानमट्ठिओ (५।१।१६४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

बिउलं (५।२।४३)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

एत्तमाघाओ (६।३४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

आहारमार्हणि (६।४६)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

एयमट्ठं (६।५०)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

मंजमासालएसु (६।५३)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

बुदुत्तमहिट्टुगा (६।५४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

१-अगस्त्य चूर्णि :

वृत्तमंगमयाव अलक्खणो अनुस्वारो ।

२-वही :

अहवा तवेव मणोऽमिसंबञ्जति ।

३-जिनदास चूर्णि, पृ० ८४ :

परिष्वयंतो नाम गामणगरादीणे उच्चवेसेजं विचरतो'ति कुतं मयइ तस्म ।

४-हारिमन्नीय टीका, पत्र १४०, १५६ :

'कङ्कुअं' अनुस्वारोऽलाक्षणिकः ।

असिषाणमहिङ्गा (६।६२)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

समस्तमाउहे (८।६१)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

वयणंकरा (६।२।१२)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

उबहिणामधि (६।२।१८)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

निष्कलम्भ-माणाए (१०।१)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

१०—विशेष-विमर्श

धिरस्थु ते असोकामी (२।७)

चूर्णिकार और टीकाकार ने 'जसोकामी' की 'यशःकामिन्' और अकार लोप मान कर 'अयश कामिन्'—इन दो रूपों में व्याख्या की है ।^१

छत्तस्स य धारणट्ठाए (३।४)

टीकाकार लिखते हैं—अनर्थ—बिना मतलब अपने या दूसरे पर छत्र का धारण करना अनाचार है ।^२ आगाढ रोगी आदि के द्वारा छत्र-धारण अनाचार नहीं है । प्रश्न हो सकता है कि टीकाकार अनर्थ छत्र-धारण करने का अर्थ कहाँ से लाए ? इसका स्पष्टीकरण स्वयं टीकाकार ने ही कर दिया है । उनके मत से सूत्र-पाठ अर्थ की दृष्टि से 'छत्तस्स य धारणमणट्ठाए' है । किन्तु पद-रचना की दृष्टि से प्राकृत-शैली के अनुसार, अकार और नकार का लोप करने से, 'छत्तस्स य धारणट्ठाए' ऐसा पद शेष रहा है । साथ ही वह कहते हैं—परम्परा से ऐसा ही पाठ मान कर अर्थ किया जा

१—(क) जिनवास चूर्णि, वृत्त ८८ ।

(ख) हारिमन्त्रीय टीका, पत्र ९६ ।

२—हारिमन्त्रीय टीका, पत्र ११७ :

छत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं वा प्रति अनर्थाय इति, आगाढ-
स्नानाद्यालम्बनं मुक्त्वाजाचरितम् ।

रहा है। अतः श्रुत-प्रमाण भी इसके पक्ष में है। इस तरह टीकाकार ने 'अण्ट्राए' के स्थान में 'अण्ट्राए' शब्द ग्रहण कर अर्थ किया है।^१

पाणहा (३।४)

यह प्राकृत शब्द 'उवाहणा' का संक्षिप्त रूप है।

धूमनेति (३।६)

इस शब्द की व्याख्या 'धूपनमिति' और 'धूमनेत्र' इन दो रूपों में की गई है।^२ धूमनेत्र का अर्थ है—धुआँ पीने की नली।

जे य कीडपयंगा, जा य कुंधुपिवीलिया (४।सू०६)

यहाँ उद्देश का व्यत्यय है। कीट द्वीन्द्रिय, पतंग तनुरिन्द्रिय और कुंधु तथा पिपीलिका त्रीन्द्रिय है। इनका क्रमशः उल्लेख होना चाहिए था, परन्तु सूत्र की गति विचित्र होनी है और उसका क्रम अतंत्र होना है—तंत्र में नियंत्रित नहीं होता, इसलिए यहाँ ऐसा हुआ है, यह टीकाकार का अभिमत है।^३

किन्तु हमारे अभिमत में इस व्यत्यय का कारण छन्दोबद्धता है। सम्भवतः ये दोनों किसी गाथा के चरण हैं, जो ज्यों के त्यों उद्धृत किए गए हैं।

से सुहुमं (४।सू०११)

'से' शब्द मागध देश में प्रसिद्ध 'अथ' शब्द का वाचक है।^४

ओगहंसि अनाइया (४।१।१८)

यह पाठ दो स्थानों पर है—यहाँ और ६।१३ में। पहले पाठ की टीका—

१—हारिन्द्रिय टीका, पत्र ११७ :

प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपो च द्रष्टव्यौ, तथा श्रुति-प्रामाण्याविति।

२—वही, पत्र ११८ :

प्राकृतशैल्या अनागतस्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यग्ये ध्यायकते।

३—वही, पत्र १४२ :

ये च कीटपतङ्गा इत्याद्यावुद्देशव्यत्ययः किमर्थम्? उच्यते 'विचित्रा सूत्र-गतितरतंत्रः क्रम' इति ज्ञापनार्थम्।

४—वही, पत्र १४५ :

ते शब्दो मागधदेशप्रसिद्धः अथ शब्दार्थः।

‘अवग्रहमयाचित्वा’ और दूसरे पाठ की टीका—‘अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा’ है।^१ ‘ओमाहृसि’ को सप्तमी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप ‘अवग्रहे’ बनेगा और यदि ‘ओमाहृसि’ ऐसा पाठ मान कर ‘ओमाहृ’ को द्वितीया का एकवचन तथा ‘से’ को षष्ठी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप ‘अवग्रहं तस्य’ होगा।

अज्झोयर (५।१।५५)

टीकाकार ‘अज्झोयर’ का संस्कृत-रूप ‘अध्यवपूरक’ करते हैं। यह अर्थ की दृष्टि से सही है पर छाया की दृष्टि से नहीं, इसलिए हमने इसका संस्कृत-रूप ‘अध्यवतर’ किया है।

सन्निहीकामे (६।१८)

चूर्णिकारो ने ‘सन्निधिकाम’ यह एक शब्द माना है।^२ टीकाकार ने ‘कामे’ को क्रिया माना है। उनके अनुसार ‘सन्निहि कामे’ ऐसा पाठ बनता है।^३

अहिज्जगं (८।४६)

इसका संस्कृत-रूप ‘अधीयानम्’ किया गया है।^४ चूर्ण और टीका का आशय यह है कि जो सम्पूर्ण दृष्टिवाद को पढ़ लेता है, वह भाषा के सब प्रयोगों से अभिज्ञ हो जाता है, इसलिए उसके बोलने में लिङ्ग आदि की स्खलना नहीं होती और जो वाणी के सब प्रयोगों को जानता है, उसके लिए कोई शब्द अशब्द नहीं होता। वह अशब्द को भी सिद्ध कर देता है। स्खलना प्रायः वही करता है, जो दृष्टिवाद का अध्ययन पूर्ण

१-हारिमन्नीय टीका :

(क) पत्र, १६७।

(ख) पत्र, १९७।

२-(क) अगस्त्य चूर्णि :

सज्जिधी भणितो, तं कामयतीति—सज्जिधीकामो।

(ख) जिनबास चूर्णि, पृष्ठ २२० :

सज्जिहि कामयतीति सन्निहििकामी।

३-हारिमन्नीय टीका, पत्र १९८ :

अन्यतरामपि स्तोकासपि ‘यः स्यात्’ यः कदाचित्संनिधिं ‘कामयते’ सेवते।

४-(क) अगस्त्य चूर्णि :

बिद्विबासमधिज्जगं—बिद्विबासमध्ययनपरं।

(ख) हारिमन्नीय टीका, पत्र २३६ :

बिद्विबासमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम्।

नहीं कर पाता ।^१ दृष्टिवाद को पढ़ने वाला बोलने में चूक सकता है, लेकिन जो उसे पढ़ चुका, वह नहीं चूकता—इस आशय को ध्यान में रख कर चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे 'अधीयान' के अर्थ में स्वीकृत किया है । किन्तु इसका संस्कृत-रूप 'अभिज्ञक' होता है । 'अधीयान' के प्राकृत रूप—'अहिज्जंत' और 'अहिज्जमाण' होते हैं ।^२

तमेव (८।६०)

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह श्रद्धा का सर्वनाम है और जिनदास चूर्णि के अनुसार पर्याय-स्थान का । आचारांग वृत्ति में इसे श्रद्धा का सर्वनाम माना है ।^३

चन्दिमा (८।६३)

इसका अर्थ व्याख्याओं में चन्द्रमा है ।^४ किन्तु व्याकरण की दृष्टि से चन्द्रिका होता है ।^५

मय (९।१।१)

मूल शब्द 'माया' है । छन्द-रचना की दृष्टि से 'मा' को 'म' और 'या' को 'य' किया गया है ।^६

१—(क) अगस्त्य चूर्णि : अधीतसख्वातोगतविसारवस्स नत्थि ललितं ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २८९ :

अधिज्जियगहणेण अधिज्जमाणस्स वयणल्लणा पायसो नवइ, अधिज्जिए पुण निरवसेसे दिट्ठिवाए सख्खपयोयजाणगतत्तेण अप्पमतत्तेण य वत्ति-
विक्खलियमेव नत्थि, सख्खवयोगतवियाणया असहमवि सइं कुज्जा ।

२—पाइयसहमहणव, पृष्ठ १२१ ।

३—(क) अगस्त्य चूर्णि : तं सद्धं पवज्जासमकालिणिं अगुपालेज्जा ।

(ख) हारिमद्वीय टीका, पत्र २३८ :

तामेव श्रद्धामप्रतिपत्तितया प्रवर्द्धमानामनुपालयेन ।

४—अगस्त्य चूर्णि : चन्दिमा चन्द्रमाः ।

५—हेमशब्दानुशासन, ८।१।१८५ : चन्द्रिकायां मः ।

६—(क) अगस्त्य चूर्णि : मय इति मायातो इति एत्थ आचारस्स हस्सता ।
सहस्सता य लक्खणविज्जाए अत्थि जथा—हस्सो गणुंसके प्रातिपदिकस्य पराते विसेसेण जथा एत्थ 'व' 'वा' सहस्स ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३०१ :

मयगहणेण मायागहणं मयकारहस्सत्तं बंधाणुलोमकयं ।

(ग) हारिमद्वीय टीका, पत्र २४२ :

मायातो—निकृतिरूपायाः ।

सिग्धं (६।२।२)

प्राकृत में श्लाघ्य के 'सग्ध' और 'सिग्ध' दोनों रूप बनते हैं । यह श्रुत का विरोध है । अगस्त्यसिंह स्वविर ने 'सग्ध' का प्रयोग किया है ।^१

सूत्रकृतांग (३।२।१६) में भी 'सग्ध' रूप मिलता है—'भुज भोगे इमे सग्धे' ।

सुयत्थधम्मा (६।२।२३)

इसकी दो व्युत्पत्तियाँ—'जिसने अर्थ-धर्म मुना है' अथवा 'धर्म का अर्थ मुना है जिसने'— मिलती हैं ।^२

मुंचसाहू (६।३।११)

यहाँ 'असाह' शब्द के अकार का लोप किया गया है । अगस्त्यसिंह स्वविर ने यहाँ समान की दीर्घता न कर कितंत (कृतांत—कृतो अन्तो येन) की तरह 'पररूप' ही रखा है ।^३ जिनदास महत्तर ने ग्रन्थ-लाघव के लिए अकार का लोप किया है—ऐसा माना है ।^४ टीकाकार ने प्राकृतगैली के अनुसार 'अकार' का लोप माना है ।^५ यहाँ 'गुण' शब्द का अध्याहार होता है—'मुंचसाधुगुणा' अर्थात् असाधु के गुणों को छोड़ ।^६

वियाणिया (६।३।११)

टीकाकार ने 'वियाणिया' का संस्कृत-रूप 'विजापयति' किया है किन्तु उसका संस्कृत-रूप जो 'विजाय' होता है, वह अर्थ की दृष्टि से सर्वथा संगत है ।

१—(क) अगस्त्य बूर्णि :

मुत्तं च सग्धं साधणीयमविगच्छति ।

(ख) हारिमदीय टीका, पत्र २४७ :

भुतम् अंगप्रविष्टादि श्लाघ्यं प्रशंसास्पदभूतम् ।

२—जिनदास बूर्णि, पृष्ठ ३१७ :

सुयोत्थधम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा गीयत्थित्ति मुत्तं मबद्ध, अहवा सुओ अत्थो धम्मस्स जेहिं ते सुतत्थधम्मा ।

३—अगस्त्य बूर्णि :

एत्थ ण समानदीर्घता किन्तु पररूपं कृतंतं वविति ।

४—जिनदास बूर्णि, पृष्ठ ३२२ :

मंथलाघवत्थमकारलोभं काऊण एवं पठिज्जइ अहा मुंच साधुत्ति ।

५—हारिमदीय टीका, पत्र २५४ ।

६—अगस्त्य बूर्णि :

मुंचासाधु गुणा इति वयण सेतो ।

११-क्रम-भेद

जा य बुद्धेहिंजाइन्ना (७।२)

श्लोक के इस चरण में असत्याऽमृषा का प्रतिपादन है। वह क्रम-दृष्टि से 'जा य सच्चा अवसत्त्वा' के बाद होना चाहिए था, किन्तु पद्य-रचना की अनुकूलता की दृष्टि से विभक्ति-भेद, वचन-भेद, लिङ्ग-भेद, क्रम-भेद हो सकता है, इसलिए यहाँ क्रम-भेद किया गया है।^१

तरित्तु ते ओहमिणं वुत्तरं (१।२।२३)

यह पद 'खवित्तु कम्म' के पश्चात् होना चाहिए था। किन्तु यहाँ पश्चाद्दीपक सूत्र रचना-शैली से उसका पहले उपन्यास किया गया है, इसलिए यह निर्दोष है।^२

१-(क) जिनवास चूर्णि, पृष्ठ २४४ :

चउत्थीवि जा अ बुद्धेहि नाइम्लगहणेणं असच्चाभोसावि गहिता,
उक्कमकरणे भोसावि गहिता एवं कम्माणुलोमत्तं, इतरहा सच्चाए,
उवरिंभा भाणियव्वा, गंदाणुलोमत्ताए विमत्तिमेवो होज्जा वयणमेवो
वत्तु(धी) पुमलिंगमेवो व होज्जा अत्थं अमच्छंतो ।

(ख) हारिमदीय टीका, पत्र २१३ :

या च 'बुद्धैः' तीर्थकरमयधरैरनाचरिता असत्यामृषा आभन्त्रध्याप्तापन्या-
दिलक्षणा ।

२-जिनवास चूर्णि, पृष्ठ ३१७ :

'पुण्वि खवित्तु कम्ममिति' वत्तव्ये कहुं तरित्तु ते ओहमिणं वुत्तरंति
पुण्वमणियं ? आयरिओ आहु—पण्ठादीवगो नाम एस सुत्तबंभोत्तिकाऊन
न दोसो मवइ ।

५-भाषा की दृष्टि से

इसमें अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री आदि के संबलित प्रयोग हैं। 'हृत्सि वा', 'पार्यसि वा' (४१०० २३) में अर्धमागधी के प्रयोग हैं। प्राकृत में सप्तमी के एकवचन के दो रूप बनते हैं—हृत्से, हृत्समि ।^१ 'हृत्सि' यह अर्धमागधी में बनता है। 'जे' (२१३), 'करेमि' (४१०० १०)—इनमें 'ओकार' के स्थान में जो 'एकार' है वह अर्धमागधी का लक्षण है।^२

मणसा (८१३), जोगसा (८१७)—ये अर्धमागधी के प्रयोग हैं। प्राकृत में ये नहीं मिलते।

बह्वे (७१४८), 'बहु' शब्द का प्रथमा का बहुवचन, जसोकामी (२१७), दोच्चे (४१०० १२), तच्चे (४१०० १३), सोच्चा (४१११), लढूण (४१२१४७), ऊसदं (४१२१२५), संवुड (४११८३), परिवुड (४१११५), कड (४१२०), कट्टु (४०१११४) आदि-आदि तथा मकार के अलाक्षणिक प्रयोग, जिनका यथास्थान निर्देश किया गया है, ये सब अर्धमागधी के प्रयोग हैं, जिन्हें हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में आप्त-प्रयोग कहा है। हियट्टयाए (४१०० १७)—यहाँ स्वार्थ में 'या' और 'य' के स्थान में 'एकार' का प्रयोग है, जो प्राकृत-सिद्ध नहीं है। 'तेईदिया' में 'ति' का 'ते' हुआ है। यह अर्धमागधी का प्रयोग है।^३ कही शोरसेनी के लक्षण भी मिलते हैं, जैसे—अत्तवं (आत्मवान्) (८१४८) यहाँ 'न' को 'म' किया है, जो शोरसेनी में होता है।^४

देशी या अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग भी प्रचुर हैं। गावी (४१११२) को पतञ्जलि 'गो' शब्द का अपभ्रंश बतलाते हैं।^५ आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत-भाषा-विशेष के शब्दों को 'देशी' माना है।^६

१-हेमशब्दानुशासन, ८१३१११ :

डे म्म डेः ।

२-वही, ८१४१२८७ :

अत्त एत्तसौ पुंसि मागध्याम् ।

३-प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पैरा ४३८, पृष्ठ ६५१ ।

४-हेमशब्दानुशासन, ८१४१२६४ :

मो वा ।

५-पातञ्जल महामाध्य, पस्पशाह्निक :

एकप्यैव गोशब्दस्य गावी-गोणी-गोता-गोपोतलिकेत्याद्योजनेऽप्यशब्दाः ।

६-बेरीनाममाला, ११४ :

बेतचित्सपसिद्धीइ मण्णमाणा सणन्तया हुत्ति ।

तम्हा अणाइपाइय्यट्टमासाचित्सओ बेती ॥

६—शरीर-परामर्श

दशवैकालिक के दश अध्ययन हैं। उनमें पाँचवें के दो और नवें के चार उद्देशक हैं, षष्ठ अध्ययनों के उद्देशक नहीं हैं।

चौथा और नववाँ अध्ययन गद्य-पद्यात्मक है, शेष सब पद्यात्मक हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :

अध्ययन	श्लोक	सूत्र
१—द्रुमपुष्पिका	५	
२—ध्रामप्य-पूर्वक	११	
३—धुल्लकाचार	१५	
४—धर्म-व्रजति या षड्-जीवनिका	२८	२३
५—पिण्डधणा	१५०	
६—महाचार	६८	
७—वाक्यशुद्धि	५७	
८—आचार-प्रणिधि	६३	
९—विनय-समाधि	६२	७
१०—समिधु	२१	
चूलिका		
१—रतिवाक्या	१८	१
२—विविक्तचर्या	१६	

चूर्णिकार और टीकाकार पद्य-संख्या के बारे में एक मत नहीं है। निर्युक्तिकार ने जैसे अध्ययनों के नाम, उनके विषय और अधिकारों का निरूपण किया है, वैसे ही इनकी श्लोक-संख्या का परिमाण बताया होता तो चूर्णिकार और टीकाकार की दिशा में इतनी भिन्न नहीं होती। टीकाकार के अनुसार दशवैकालिक के पद्यों की संख्या ५०६ और चूलिकाओं की ३४ है। जबकि चूर्णिकार के अनुसार क्रमशः ५३६ और ३३ होती है। बहुत अन्तर पाँचवें और सातवें अध्ययन में है। पाँचवें अध्ययन के पहले उद्देशक की पद्य-संख्या १३०, दूसरे की ४८; सातवें अध्ययन की ५६ और पहली चूलिका की १७ है।

शास्त्रों के नाम निर्देश्य और निर्देशक दोनों के अनुसार होते हैं।^१ दशवैकालिक के अध्ययनों के नाम प्रायः निर्देश्य के अनुसार हैं। इसलिए अध्ययन के नाम से ही विषय

१—आवश्यक निर्मुक्ति, गाथा १४१, वृत्ति पत्र १४९ :

निर्देश्यवशान् निर्देशकवशाच्च द्विप्रकारमपि नैगमनयो निर्देशमिच्छति ।
लोकोत्तरेऽपि निर्देश्यवशाद्, यथा—षड्जीवनिका तत्र हि षड्-जीवनिकाया
निर्देश्याः ।

का बोध हो जाता है। निर्युक्ति के अनुसार पहले अध्ययन (द्रुमुत्पिका) का विषय (अर्थाधिकार) धर्म-प्रशंसा है। धर्म का पालन धृति के द्वारा ही किया जा सकता है, यह दूसरे अध्ययन (श्रामण्य-पूर्वक) का विषय है। तीसरे अध्ययन (धुल्लकाचार) में आचार का संक्षिप्त वर्णन है। चौथे अध्ययन (धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्-जीवनिका) में आत्म-संयम के उपाय और जीव-संयम का निरूपण है। पाँचवें अध्ययन (पिण्डैषणा) में भिक्षा की विवृद्धि, छठे (महाचार कथा) में विस्तृत आचार, सातवें (वाक्य-शुद्धि) में वचन-विभक्ति, आठवें (आचार-प्रणिधि) में प्रणिधान, नवें (विनय-समाधि) में विनय और दमवें (मभिभू) में भिक्षु के स्वरूप का वर्णन है। जिसका चित्तन संयम से डिगते हुए भिक्षु का आत्मबल बन सके, यह पहली चूलिका (रतिवाक्या) का विषय है। संयम में रत रहने में होने वाली गण-वृद्धि और धर्म के प्रयास का फल दूसरी चूलिका (विविक्तचर्या) में बतलाया है।^१

व्याख्याकारों के अभिमत में अध्ययनों का क्रम विषय-क्रम के अनुसार हुआ है। नव-दीक्षित भिक्षु को धर्म में सम्मोह न हो, इसलिए उसे धर्म का महत्त्व बतलाना चाहिए—यह इस आगम का ध्रुव-बिन्दु है। धर्म का आचरण धृति-पूर्वक ही किया जा सकता है; धृति आचार में होनी चाहिए, आचार का स्वरूप^२ षट्काय के जीवों की दया और पाँच महाव्रत है—यह क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे अध्ययन के क्रम का हेतु है। धर्माचरण का साधन शरीर है। वह खान-पान के बिना नहीं टिकता। आचार की आराधना करने वाला हिंसक पद्धति में न खाए, इसलिए धर्म-प्रज्ञप्ति के बाद पिण्डैषणा का

१-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २०-२४ :

पहमे धम्मपसंसा सो य इहेव जिणसासनम्मिस्ति ।
 बिइए धिइए सक्का काउं जे एस धम्मोस्ति ॥
 तइए आयासकहा उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ ।
 तह जीवसंजमोवि य होइ चउत्थंमि अज्झयणे ॥
 भिक्खवित्तोही तवसंजमस्स गुणकारिया उ पंचमए ।
 छट्ठे आधारकहा सहई ओग्गा महयणस्स ॥
 वयणविजत्ती पुण-सत्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे मणियं ।
 जबमे जिणओ हसमे समाणियं एस भिक्खुस्ति ॥
 दो अज्झयणा बूलिय विसीययंते चिरीकरणमेगं ।
 बिइए विवित्तचरिया अस्तीयणुणाइरेगफला ॥

२-अगस्त्य धूर्ति :

आयारो छक्कायवया पंचमहम्बयाणि ।

क्रम प्राप्त होता है। पाँच महाव्रत मूल गुण हैं। उनकी सुरक्षा के लिए उनके बाद उत्तर गुण बतलाए गए हैं।^१ पिण्डैषणा के लिए जाने पर आचार के बारे में पूछा जा सकता है। आचार-निरूपण के लिए वचन-विभक्ति का ज्ञान आवश्यक है। वचन का विवेक आचार में प्रणिहित (समाधियुक्त) भिक्षु के ही हो सकता है। आचार में जो प्रणिहित होता है, वह विनययुक्त ही होता है—यह छठे से नवें तक का क्रम है। पूर्ववर्ती अध्ययनों में वर्णित गुणों में सम्पन्न व्यक्ति ही भिक्षु होता है, इसलिए सबके अन्त में 'संभिक्षु' अध्ययन है।^२ कर्मवशा संयम में अस्थिर बने भिक्षु का पुनः स्थिरीकरण और उसका फल ये दो चूलिकाओं का क्रम है। इस प्रकार यह आगम 'धर्म उत्कृष्ट मंगल है' (धम्मो मंगलमुत्तिकट्टं—१।१) इस वाक्य में शुरू होता है और 'धर्म से सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है' (सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुञ्चद—चूलिका २।१६) इस वाक्य में पूर्ण होता है।

१—अगस्त्य ऋषि

तच्चणु धम्मे धित्तमतो आयासद्विगसस्स छक्कायवयापरस्स जासरीरो धम्मो भवति, पहाणं च सरीरधारणं पिडोत्ति पिडेसणावसरो। अह्वा छज्जीवणियाए पंचमहम्मया भणिता ते मूलगुणा, उत्तरगुणा पिडेसणा, कंहं ? "पिडस्स जा विसोधी०" (अ० भा० उ० गा० २८९) अतो छज्जीवणिकायाणंतरे पिडेसणा पाणातिवातरक्खणं ताव "उवओल्लेण हत्थेण इव्वीए भायणे" (अ० ५, उ० १, गा० ३३) एवमादि, मुसावडे "तवत्तेण वतितेण" (अ० ५, उ० २, गा० ४४) अदिण्ण बागे "कवाडं णो पणोत्तेज्जा, ओमाहसे अजातिपा" (अ० ५, उ० १, गा० १८) मेहुगे "ण खरेज वेससामंते" (अ० ५, उ० १, गा० ९) पंचमे "अमुच्छितो मोयणम्मी" (अ० ५, उ० २, गा० २५) मुच्छा परिमाहो सो निवारिज्जति।

२—बही :

संभिक्षुयं न केवलं मर्णतरेण जवहिं वि अम्मयणेहिं अभिसंजज्जति, कंहं ? जो धम्मे धित्तिसंपणे आयासत्थो छक्कायवयावरो एसणासुद्धमोगी आयासकहण-समत्थो विचारियविसुद्धवक्को आयासपणिहितो विनयसमाप्तिपिणा संभिक्षुत्ति संभिक्षुयं।

दिगम्बर-परम्परा के साहित्य में दशवैकालिक का विषय 'साधु के आचार-गोचर की विधि का वर्णन' बतलाया है ।^१

१-(क) जयधम्मसा, पृष्ठ १२० :

साहूणभाधारगोयरविहिं बसवेयालियं बण्णेवि ।

(ख) धम्मसा, सत्तकम्पणा (१।१।१), पृष्ठ ९७ :

बसवेयालियं भाधार-गोयर-विहिं बण्णेइ ।

(ग) अंगत्पण्णत्ति बूलिका, भाषा २४ :

जदि गोय्यरस्स विहिं पिडविसुट्ठि च ञं पल्लवेवि ।

बसवेयालिय सुत्तं बहकाला जत्थ संवुत्ता ॥

७-छन्द-विमर्श

कुछ आधुनिक विद्वानों ने दशवैकालिक का पाठ-संशोधन किया, उसके साथ-साथ छन्द की दृष्टि से भी पाठ-संशोधन कर डाला। अनुष्टुप् श्लोक के चरणों में सात या नौ अक्षर थे, वहाँ पूरे आठ कर दिए। डा० ल्यूमेन ने ऐसा प्रयत्न बड़ी सावधानी से किया है, पर मौलिकता की दृष्टि से यह न्याय नहीं हुआ। छन्दों के प्रति आज का दृष्टिकोण जितना सीमित है, उतना पहले नहीं था।

वैदिक-काल में छन्दों के एक-दो अक्षर कम या अधिक भी होते थे। किसी छन्द के चरण में एक अक्षर कम होता तो उसके पहले 'निचृत्' और यदि एक अक्षर अधिक होता तो उसके साथ 'भूरिक्' विशेषण लगा दिया जाता।^१ किसी छन्द के चरण में दो अक्षर कम होते तो उसके साथ 'विराज' और दो अक्षर अधिक होते तो 'स्वराज्य' विशेषण जोड़ दिया जाता।^२

आगम-काल में भी छन्दों के चरणों में अक्षर न्यूनाधिक होते थे। प्रस्तुत आगम में भी ऐसा हुआ है। अगस्त्यसिंह मूलपाठ के पूर्व श्लोक, वृत्त, मुत्त, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्र-वज्रोपजाति, इन्द्रोपवज्रा, वैतालिक और गाथा का उल्लेख करते हैं।

अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं किन्तु इसके अनुष्टुप् श्लोकों के चरण सात, आठ, नौ और दस अक्षर वाले भी हैं।

अगस्त्यसिंह मुनि के अनुसार इसमें द्वयर्ध-श्लोक भी हैं। उन्होंने इसके समर्थन में लौकिक मत का उल्लेख किया है।^३

धम्म-पद का प्रारम्भ द्वयर्ध-श्लोक से ही होता है। वैदिक-काल में भावों पर छन्दों का प्रतिबन्ध नहीं था। भावानुकूल २, ३, ४, ५, ६, ७ और ८ चरणों के छन्दों का भी निर्माण हुआ है।^४

१-ऋक् प्रातिशाख्य, पाताल ७

एतन्म्यूनाधिका सैव निचृद्व्यूनाधिका भूरिक्।

२-शौनक, ऋक् प्रातिशाख्य, पाताल १७।२ :

विराजैस्तूतरस्याहुर्वाभ्यां या विषये स्थिताः।

स्वराज्य एवं पूर्वस्य याः काश्चैवं गता ऋचः॥

३-वेत्तो-दशवैकालिक (मा० २) ५।२।१५ का टिप्पण, पृष्ठ ३०२।

४-आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृष्ठ ७५।

इस सूत्र के दस अध्ययन तथा दोनो चूलिकाओं के सम्मिलित श्लोक ५१४ हैं। प्रत्येक श्लोक के चार-चार चरण हैं। चरणों की कुल संख्या २०५६ हैं। इनमें अधिकांश चरण (लगभग ८० प्रतिशत) अनुष्टुप् छन्द के हैं और शेष अन्यान्य छन्दों के।

अनुष्टुप् छन्दों के निबद्ध चरणों में भी एकरूपता नहीं है। कही अक्षरों की अधिकता है और कहीं न्यूनता।

कई चरणों में एक अक्षर अधिक है, जैसे—१।२।२, १।४।२, ४।२६।१। कई चरणों में दो अक्षर अधिक है, जैसे—६।२७।३, ८।५।१, ८।१४।१। कई चरणों में तीन अक्षर कम है, जैसे—८।२।१ आदि-आदि। कई चरणों में एक अक्षर कम है, जैसे—३।४।१, ८।३१।१। कई चरणों में दो अक्षर कम है, जैसे—५।१।१२।१। अनुष्टुप् छन्द के अतिरिक्त इस सूत्र में जाति, त्रिष्टुप्, जगती, वृतालिक, मधुमति, कामदा आदि छन्दों का प्रयोग भी हुआ है।^१

१—विशेष विवरण के लिए देखो :

The Daśavaikālika Sūtra : A Study, pp. 20-27 and pp. 101-106

८-उपमा और दृष्टान्त

जैन-आगम उपमाओं और दृष्टान्तों से भरे पड़े हैं। व्याख्या-ग्रन्थों में भी ये व्यवहृत हुए हैं। देश, काल, क्षेत्र, सम्यता और संस्कृति के अनुरूप अनेक उपमाएँ और दृष्टान्त प्रचलित होते हैं। इनके व्यवहार से कथा-वस्तु में प्राण आ जाते हैं और वह सहजतया हृदयगम हो जाती है।

इस सूत्र में अनेक उपमाएँ और दृष्टान्त हैं। वे अनेक तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं। उनका समग्र संकलन इस प्रकार है -

१—विहंगमा व पुष्पेभ्यु	११३
२—पुष्पेभ्यु भमरा जहा	११४
३—महुकारसमा	११५
४—मा कुले गंधणा होमो	२१८
५—बायाइदो व्व हडो	२१९
६—अकुसेण जहा नागो	२१०
७—महु-घर्यं व	५१११६७
८—निच्चुव्विगो जहा तेणो	५१२१३६
९—उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा	६१६८
१०—कुम्भो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो	८१४०
११—भवत्तरं पिब	८१५४
१२—विसं तालउडं जहा	८१५६
१३—सूरे व सेणाए समत्तमाउहे	८१६१
१४—रुप्पमलं व जोइणा	८१६२
१५—कसिणइभपुडावगमे व चंदिमा	८१६३
१६—फलं व कीयम्स वहाय होड	९१११
१७—सिहिंरिव भास कुज्जा	९११३
१८—जो पावयं जलियमवक्कमेज्जा आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा । जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी एसोवमासायणया गुरुणं ॥	९११६
१९—जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा । जो वा दए सत्तिअगे पहारं एसोवमासायणया गुरुणं ॥	९११८

२०—कटुं सोयगं जहा	६।२।३
२१—जलसित्ता इव पाववा	६।२।१२
२२—अग्निमिवाह्नियमी	६।३।१
२३—जत्तेण कल्लं व निवेसयंति	६।३।१३
२४—हयरस्सि-गयंकुस-पोयपढागाभूयाद्	चू० १।सू० १
२५—ईदो वा पडिओ छ्मं	चू० १।२
२६—देवया व चुया ठाणा	चू० १।३
२७—राया व रज्जपम्भट्ठो	चू० १।४
२८—सेट्ठि व्व कब्बडे छूदो	चू० १।५
२९—मच्छो व्व गले गिलित्ता	चू० १।६
३०—हत्थी व बंधणे बद्धो	चू० १।७
३१—यंकोसन्नो जहा नागो	चू० १।८
३२—दाहुद्धियं घोरविसं व नागं	चू० १।१२
३३—उव्वेतवाया व मुदंसणं गिरि	चू० १।१७
३४—आइन्नओ स्तिपमिब कललीणं	चू० २।१४
३५—जहा दुमस्स पुफेत्तु भमरो आवियइ रसं । न य पुफं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ॥ एमेए समणा मुत्ता...	१।२, ३
३६—जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुल्लओ भयं । एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥	८।५३
३७—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ । एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मदे ॥	६।१।४
३८—जहाह्नियमी जलणं नमंमे नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं । एवायरियं उव्विट्ठएज्जा अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥	६।१।११
३९—जहा निसंते तवणज्जिमाली पभासई केवलभारहं तु । एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए विरायई सुरमज्जे व इंदो ॥	६।१।१४
४०—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो नक्खत्ततारागणप रिबुडण्णा । खे सोहई विमले अम्भमुक्के एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्जे ॥	६।१।१५

- ४१—मूलाओ खंघणभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेति साहा ।
 साहप्पसाहा विहंति पत्ता तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥
 एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से भोक्खो । ६।२।१,२
- ४२—दुगओ वा पओएणं चोडओ वहई रहं ।
 एवं दुबुद्धिं किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुब्बई ॥ ६।२।१६

६-परिभाषाएँ

इस शीर्षक के अन्तर्गत मूल आगम में प्रतिपादित परिभाषाओं को एकत्रित किया गया है। कई परिभाषाएँ स्पष्ट हैं और कई अस्पष्ट। वे अस्पष्ट परिभाषाएँ भी विषय की भावना को बहून करती हैं, अतः इन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। दशवैकालिक में आई हुई परिभाषाएँ ये हैं

(१) अत्यागी—

वत्थनन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।

अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न ते चाइ त्ति बुच्चइ ॥ २।२

(२) त्यागी—

जे य कन्ते पिए भोए लडे विपिट्टिकुब्बई।

साहीणे जयइ भोए से हु चाइ त्ति बुच्चइ ॥ २।३

(३) त्रम—

जेसि केसिच्चि पाणाणं अभिक्कतं पडिक्कतं संकुचियं

पसारियं दयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविप्पया ॥ ४।सु०९

(४) समुदान—

समुयाणं चरे निक्खु कुलं उच्चावयं सया।

नीयं कुलमइक्कम्म ऊसडं नानिधारए ॥ ५।२।२५

(५) अहिंसा—

अहिंसा निउणं बिट्ठा सब्बमूएसु संजमो ॥ ६।८

(६) गृही—

जे सिया सन्निहीकामे गिही पब्बइए न से ॥ ६।१८

(७) परिग्रह—

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ॥ ६।२०

(८) संसार और मोक्ष—

अगुसोओ संसारो पडिस्सोओ तस्स उत्तारो ॥ जूलिका २।३

(९) विहारचर्या—

अणिएयवासो समुयाणचरिया अन्नायउंछं पडरिक्कया य।

अण्योवही कलहविबज्जणा य विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥ जूलिका २।५

(१०) प्रतिबुद्धजीवी—

जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स थिइमओ सप्पुरिस्सत्त निच्चं।

तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी सो जीवइ संजमजीविएणं ॥ जूलिका २।१५

१०-चूलिका

चूलिका का अर्थ शिखा या चोटी है। छोटी चूला (चूड़ा) को चूलिका कहा जाता है।^१ यह इसका सामान्य शब्दार्थ है। साहित्य के क्षेत्र में इसका अर्थ मूल शास्त्र का उत्तर-भाग होता है। उमल्लिङ्ग चूलिका द्वय को 'दशवैकालिक' का 'उत्तर-तंत्र' कहा गया है।^२ तंत्र, सूत्र और ग्रन्थ ये एकार्थक शब्द हैं।^३ आजकल सम्पादन में जो स्थान परिशिष्ट का है, वही स्थान प्राचीन काल में चूलिका का रहा है। मूल सूत्र में अवर्णिन अर्थ का और वर्णिन अर्थ का : टीकाकरण करना इसकी रचना का प्रयोजन है।^४ अगस्त्य-सिंह ने इसकी व्याख्या में इसे उक्त और अनूक्त दोनों प्रकार के अर्थों का संग्राहक लिखा है।^५ टीकाकार ने संग्रहण का अर्थ किया है—शास्त्र में उक्त और अनूक्त अर्थ का संक्षेप।^६ शीलान्क सूत्र चूलिका को अग्र बतलाते हैं।^७ अग्र का अर्थ वही है जो 'उत्तर'

१-अगस्त्य चूर्णि :

अप्याचूला चूलिया ।

२-(क) अगस्त्य चूर्णि :

तं पुन चूलिका बुनं उत्तर तंतं जथा आचारस्स पंचचूला उत्तरमिति जं उवरिसत्थस्स ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३४९ :

तं पुन चूलियदुगं उत्तरं तंतं नायध्वं, जहा आचारस्स उत्तरं तंतं पंच चूलाओ, एवं वसवेयालियस्स बोणिण चूलाओ उत्तरं तंतं भवइ ।

३-जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३४९ :

तंतंति वा सुत्तो ति वा गंयो ति वा एगट्ठा ।

४-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३५९ :

तं पुन उत्तरतंतं सुअगहिअत्थं तु संगहणी ॥

५-अगस्त्य चूर्णि :

अं अवर्णिताव संगहत्थं सुतगहितत्थं—सुते जे गहिता अत्था तेसि कस्सति फुडीकरणत्थं संगहणी ।

६-हारिभरीय टीका, पत्र २६९ :

संगहणी तदुक्तानुक्तार्थसंक्षेप ।

७-आचारंग २।१ वृत्ति, पत्र २८९ :

अनभिहितार्थभिधानाय संक्षेपोक्तस्य च प्रपञ्चाय तद्व्यवृत्ताव्यक्तलक्षणा उक्तानुक्तार्थसंग्राहिकाः प्रतिपाद्यन्ते ।

का है। आचारांग की व्याख्या में दशवैकालिक की और दशवैकालिक की व्याख्या में आचारांग की चूलिका का उल्लेख हुआ है।^१

आगमो से सम्बन्ध रखने वाली चूलिकाएँ और संग्रहणी ग्रन्थ अनेक हैं। मूल आगम और संग्रहणी व चूलिका के कर्त्ता एक नहीं रहे हैं। संग्रहणी व चूलिका बहुधा भिन्न-भिन्न कर्त्तृक प्रतीत होती हैं फिर भी मूल शास्त्र की जानकारी के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण उनको आगम के अंग रूप में स्वीकार किया गया है।

परिशिष्ट-पर्व के अनुसार नन्द-माम्राज्य के प्रधान मंत्री शकडाल के द्वितीय पुत्र श्रायक जन्म मुनि बने। सध्वत्सरी पर्व आया। उस दिन उपवास करना जन्म मुनि के लिए अनिवार्य है। वे उपवास करने में असमर्थ थे। उनकी बहिन यक्षिणी, जो साध्वी थी, को इसका पता चला। वह भाई के पास आई और उद्यो-त्यो प्रयत्न कर उनमें उपवास करवाया। श्रायक उपवास में चल बसे। बहिन के मन में सन्देह हो गया कि वह मुनि-घातिका है। आचार्य ने कहा—“तुम घातिका नहीं हो। तुमने समझाया था, किन्तु बल-प्रयोग नहीं किया था।” फिर भी सन्देह नहीं मिटा। उस समय शासन-देवी उसे महा-विदेह क्षेत्र में सीमंघर स्वामी के पास ले गई। सीमंघर स्वामी ने उसे निर्दोष बताया। केवली के मग से अपने को निर्दोष मुन वह निश्चक हो गई। वहाँ से लौटते समय भगवान् सीमंघर ने उसे चार अध्ययन दिए। वह वापस अपने क्षेत्र में आई। श्रीमंघ ने उनमें से पिछले दो अध्ययन दशवैकालिक के साथ जोड़ दिए।^२ निर्युक्ति की एक गाथा में इसका उल्लेख मिलता है।^३ चूणिकार इसके बारे में मोन है। टीकाकार ने दूसरी

१—(क) आचारांग २।१ वृत्ति, पत्र २८९ :

यथा दशवैकालिकस्य चूडे ।

(ख) हारिमद्वीय टीका, पत्र २६९ :

आचारपञ्चचूडावन ।

२—परिशिष्ट-पर्व, ९।९।८३-१०० ।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४४७ :

आओ दो चूलियाओ आजीया अक्किणीए अज्जाए ।

सीमंघरवासोओ अक्कियाअक्किओहणहुए ॥

चूलिका के पहले श्लोक की व्याख्या में उक्त घटना का संकेत किया है।^१ किन्तु, उन्होंने निर्युक्ति की उक्त गाथा का अनुसरण नहीं किया। इससे इस गाथा की मौलिकता संदिग्ध हो जाती है।

१—हारिमद्रीय टीका, पत्र २७८-२७९ :

एवं च बृद्धबादः—कयाचिद्वार्ययाऽसहिष्णुः कुरगवुक प्रायः संयतस्वानुर्मासि-
काबाधुपवासं कारितः, स तदाराधनया मृत एव, ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना
सा तीर्थकरं पृच्छामीति गुणावर्जितवेवतया नीता श्रीसीमन्वरस्वामिसमीपं,
पृष्टो भगवान्, भवुष्टकिलाऽघातिवेत्यभिधाय भगवतेर्मां बूढां प्राहितेति ।

११-दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका

जिस प्रकार दशवैकालिक के अन्त में दो चूलिकाएँ हैं, उसी प्रकार आचारांग के साथ पाँच चूलिकाएँ जुड़ी हुई हैं ।^१ चार चूलिकाओं का एक स्कन्ध है । यही आचारांग का द्वितीय श्रुत-स्कन्ध कहलाता है । पाँचवीं चूलिका का नाम 'निशीथ' है ।^२ निर्युक्तिकार के अनुसार प्रथम चार चूलिकाएँ आचारांग के अध्ययनों से उद्धृत की गई हैं और 'निशीथ' प्रत्याख्यान-पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत में उद्धृत की गयी है ।^३

दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका में विषय और शब्दों का बहुत ही साम्य है । संभव है इनका उद्धरण किसी एक ही शास्त्र में हुआ हो । दशवैकालिक निर्युक्ति के अनुसार धर्म-प्रज्ञप्ति (चतुर्थ अध्ययन) आत्म-प्रवाद (सातवें) पूर्व से, पिण्डवैषणा (पाँचवाँ अध्ययन) कर्म-प्रवाद (आठवें) पूर्व से, वाक्यशुद्धि (सातवाँ अध्ययन)

१-आचारांग निर्युक्ति, शाखा ११ :

णवधर्मचरमइओ अट्टारसपयसहस्सिओ वेओ ।

हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयमेणं ॥

२-वही, शाखा ३४७ :

आयारस्स मगवओ चउत्थचूलाइ एस जिण्णुत्ती ।

पंचम चूलनिस्सीहं तस्स य उवरिं मणीहामि ॥

३-वही, शाखा २८८-२९१ :

बिइअस्स य पंचमए अट्टमगस्स बिइयंमि उहेसे ।

भणिओ पिण्डो सिज्जा बत्थं पाउगहो खेव ॥

पंचमगस्स चउत्थे इरिया बणिज्जई समासेणं ।

छट्ठस्स य पंचमए मासजायं बियाणाहि ॥

सत्तिक्कणाणि सत्तवि निज्जूठाई महापरिन्नाओ ।

सत्थपरिज्जा भावण निज्जूठाओ पुयबिमुत्ती ॥

आयारपक्कयो पुण पच्चत्ताणस्स सइयवत्थूओ ।

आयारनामबिज्जा बीसइमा पाहुवण्हेया ॥

सत्य-प्रवाद (छठे) पूर्व से और शेष सब अध्ययन प्रत्याख्यान (नवें) पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए हैं ।^१

इस प्रकार निर्युक्तिकार के अभिमत से दशवैकालिक के तीन अध्ययनों को छोड़ शेष सभी अध्ययनों और निशीथ का निर्युहण नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से हुआ है। दशवैकालिक में आचार का निरूपण है और निशीथ में आचार-भंग की प्रायश्चित्त-विधि है। दोनों का विषय आगस में गुथा हुआ है।

पिण्डेक्षणा और भाषाजान का समावेश आचारांग की पहली चूला में होता है ।^२ आचारांग के दसमें अध्ययन (श्लोक-विजय) के पाँचवें उद्देशक और आठवें (विमोह)

१-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६, १७ .

(क) आयप्यवायपुब्बा निज्जुदा होइ धम्मपन्नत्ती ।

कम्मप्यवायपुब्बा पिडस्स उ एसणा तिबिहा ॥

सच्चप्यवायपुब्बा निज्जुदा होइ वक्कसुद्धी उ ।

अवसेसा निज्जुदा नवमस्स उ तट्ठयवत्तूओ ॥

(ख) अगस्त्य चुर्णि :

आयप्यवाय पुब्बा गाहा । सच्चप्यवात । द्वितिओ विय आवेसो ।

आयप्यवाय पुब्बातो धम्मपण्णत्ती निज्जुदा, सा गुण छ जीवणिया ।

कम्मप्यवायपुब्बाओ पिण्डेसणा । आह चोवगो कम्मप्यवायपुब्बे कम्मे

वणिज्जमाणे को अवसरो पिण्डेसणाए ? गुरवो ज्ञानवति असुद्ध पिण्ड-

परिमोगो कारणं कम्मबंधस्स, एस अवकासो । भणिमं च पण्णत्तीए—

“आहाकम्मं णं मत्ते ! भुंजमाणे कतिकम्म” (भग० १।१।७९) सुत्तालावओ

विनासितव्वो ॥ ५ ॥ सच्चप्यवायाओ वक्कसुद्धी । अवसेसा अज्झयणा

पच्चक्खणाणस्स ततियवट्ठुता ।

२-आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११, वृत्ति :

तत्र प्रथमा—“पिण्डेसण सेज्जिरिया, भासज्जाया य वत्थवाएसा ।”

उग्गहपडिमत्ति सत्ताध्ययनात्थिका, द्वितीया सत्तसत्थिकाया, तृतीया भावना,

चतुर्थी विमुक्तिः, पंचमी निशीथाध्ययनम् ।

१. बहिरङ्ग परिचय · दशवैकालिक और आचारांग-चूल्का ५५

अध्ययन के दूसरे उद्देशक से पिण्डैषणा अध्ययन उद्धृत किया गया है। छठे (धूत) अध्ययन के पाँचवें उद्देशक से भाषा-जात का निर्यूहण किया गया है।^१

दशवैकालिक के पिण्डैषणा (पाँचवें अध्ययन) और वाक्यशुद्धि (सातवें अध्ययन) में तथा आचारांग-चूला के पिण्डैषणा (प्रथम अध्ययन) और भाषाजात (चौथे अध्ययन) में शाब्दिक और आर्थिक—दोनों प्रकार की पर्याप्त समता है। उसे देखकर सहज ही यह कल्पना हो सकती है कि इनका मूल स्रोत कोई एक है। इन दोनों आगमों की निर्युक्तियों के कर्त्ता एक ही व्यक्ति है।^२ उनके अनुसार इनके मूल स्रोत भिन्न है। आचारांग-चूला के अध्ययनों का स्रोत आचारांग और दशवैकालिक के अध्ययनों का स्रोत पूर्व है। किन्तु निर्युक्तिकार ने दशवैकालिक के निर्यूहण के बारे में जो संकेत किया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि उस दूसरे विकल्प को स्वीकार किया जाय तो दशवैकालिक के इन दो अध्ययनों का स्रोत वही हो सकता है, जो आचारांग-चूला के पिण्डैषणा और भाषाजात का है। पूर्व अभी उपलब्ध नहीं है, इसलिए निर्यूहण के पहले पक्ष के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता है। दूसरे पक्ष की दृष्टि से परामर्श किया जाए तो दशवैकालिक का अधिकांश भाग उपर्युक्त अंगों व अन्य आगमों में प्राप्त हो सकता है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने आचारांग-चूला के पिण्डैषणा और भाषाजात

१—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८८-२८९ :

बिद्मस्त य पंचमए अट्टमगस्त बिद्मंमि उद्देसे ।

भणिओ पिण्डो ॥

... .. ॥

छट्ठस्त य पंचमए भासज्जायं वियाणाहि ॥

(विशेष जानकारी के लिए इन गाथाओं की वृत्ति देखें ।)

२—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ८४-८६ :

आवस्तस्यस्त वसकालियस्त तह उत्तरज्जमायारे ।

सूयगडे निज्जुत्ति वोण्ठामि तहा वसाणं च ॥

कप्पस्त य निज्जुत्ति बवहारस्सेव परममिउणस्त ।

सूरिअण्णसीए वोण्ठं इसिमासिआणं च ॥

एएसि मिज्जुत्ति वोण्ठामि अहं जिण्णेएसेणं ।

आहरण-हेउ- कारण- पक्क-निबहमिणं समासेणं ॥

की रचना का आधार दशवैकालिक को माना है और कुछ विद्वान् दशवैकालिक के पिण्डेषणा और वाक्यशुद्धि की रचना का आधार आचारांग-चूला को मानते हैं ।^१

किन्तु निर्युक्तिकार के मत से दोनों आधुनिक मान्यताएँ त्रुटि-पूर्ण हैं । उनके अनुसार आचार-चूला आचारांग के अर्थ का विस्तार है । विस्तार करने वाले आचार्य का नाम सम्भवतः उनको भी ज्ञात नहीं था । इसीलिए उन्होंने आचारांग-चूला को स्यविर-कर्तृक बताया है ।^२ दशवैकालिक के निर्युक्तिक आचार्य शय्यम्भव भी चतुर्दश-पूर्वी थे और आचारांग-चूला के कर्त्ता भी चतुर्दशपूर्वी थे ।^३

भगवान् महावीर के उत्तम्वर्ती आचार्यों में प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत-विजय, भद्रबाहु और स्थूलिभद्र—ये छ आचार्य चतुर्दशपूर्वी हैं । इनमें आगमकर्त्ता के रूप में शय्यम्भव और भद्रबाहु—ये दो ही आचार्य विश्रुत हैं । शय्यम्भव दशवैकालिक के और भद्रबाहु छेद-मूत्रो के कर्त्ता माने जाते हैं । निशीथ आचारांग की पाँच चूलाओं में से एक है । इसलिए पाँचों चूलाओं का कर्त्ता एक ही होना चाहिए । चार चूलाओं को एक क्रम में पढ़ा जा सकता है । निशीथ को परिपक्व बुद्धि वाले को ही पढ़ने का अधिकार है ।^४ इसलिए सम्भव है कि प्रथम चार चूलाओं की एक श्रुत-स्कन्ध के रूप में और निशीथ की स्वतंत्र आगम के रूप में योजना की गई ।

१—देखिये—एनेल्स ऑफ माण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्ब १७, १९३६ में प्रकाशित डॉ० ए० एम० घाटगे का "ए फ्यु वैरेलत्स इन जैन एण्ड बुद्धिस्ट वर्ल्स" शीर्षक लेख ।

२—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८७ :

धेरेहिज्जुगहट्ठा सीसहिअं होउ पागइत्थं च ।

आयारो अत्थो आयारोसु पविमत्तो ॥

३—वही गाथा, २८७ वृत्ति :

‘स्यविरैः’ श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्धिर्निर्युक्तानीति ।

४—निशीथ-साध्य चूर्णि, प्रथम विभाग, पीठिका, पृष्ठ ३ :

आइत्लाओ चत्तारिचूलाओ कमेणेव अहिज्जन्ति, पंचमी चूला आदारपकण्यो ति-वास-परियागस्स आरेण न बिज्जति, ति-वास-परियागस्स बि अपरिणामगस्स अतिपरिणामगस्स वा न बिज्जति आदारपकण्यो पुण परिणामगस्स बिज्जति ।

पंचकल्प भाष्य और चूला के अनुसार निरीष के कर्ता चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु हैं।^१ इसलिए आचाराङ्ग (चार चूलाओं) के कर्ता भी वे ही होने चाहिए। यदि हमारा यह अनुमान ठीक है तो आचाराङ्ग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध दशवैकालिक के बाद की रचना है। आचार्य भद्रबाहु ने, निरुक्तिकार के अनुसार, आचाराङ्ग के आधार पर प्रथम चार चूलाओं की रचना की है। किन्तु प्रथम चूला के दो अध्ययनो (पिण्डेयणा और भाषाजात) की रचना में दशवैकालिक का अनुसरण किया है अथवा यों भी माना जा सकता है कि दोनों आचार्यों ने एक ही स्वान (नवें पूर्व के आचार प्राभूत) से इन अध्ययनो का विषय चुना, 'मल्लिग' इनमें इतना शब्दिक और आर्थिक साम्य है। इस कल्पना के लिए कुछ आधार भी हैं। दोनों आगमों के इन अध्ययनों में विषय का निर्वाचन न्यूनतम मात्रा में हुआ है। आचाराङ्ग की पिण्डेयणा में 'संखडि' का एक लम्बा प्रकरण है किन्तु दशवैकालिक की पिण्डेयणा में उसका उल्लेख तक नहीं है। इसी प्रकार वाक्यशुद्धि अध्ययन में भी बहुत अन्तर है।

दोनों आगमों में प्राप्त अन्तर का अध्ययन करने के बाद भी आचाराङ्ग की प्रथम चूला के प्रथम पिण्डेयणा और भाषाजात के निर्माण में दशवैकालिक का योग है—इस अभिमत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

दशवैकालिक की रचना आचाराङ्ग-चूला से पहले हो चुकी थी, इसका पुष्ट आधार प्राप्त होता है। प्राचीन काल में आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) पढ़ने के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था, किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् वह दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा।

प्राचीन काल में 'आमर्गध' (आचाराङ्ग १।२।५) का अध्ययन कर मुनि पिण्ड-कल्पी (भिक्षाग्राही) होते थे। फिर वे दशवैकालिक के पिण्डेयणा के अध्ययन के पश्चात् पिण्डकल्पी होने लगे।

यदि आचाराङ्ग-चूला की रचना पहले हो गई होती तो दशवैकालिक को यह स्थान प्राप्त नहीं होता। इसमें यह प्रमाणित होता है कि आचाराङ्ग-चूला की रचना दशवैकालिक के बाद हुई है।

१-(क) पंचकल्प भाष्य, गाथा २३ :

आयार बसा कण्यो, बबहारो नवम पुण्वणीसंबो ।

चारित्त रत्नगुहा, सूयकडसुबर्णि ठवियाइं ॥

(ख) पंचकल्प धूर्णि :

तेन भगवता आयारपकण्य बसाकण्य बबहारा य नवमपुण्व नीसंबभूता निज्जूडा ।

दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका के तुलना-स्थल :

शब्द और भाव-साम्य

दशवैकालिक

आचारांग-चूलिका

एगंतमवक्कमित्ता ,
 अचित्तं पडिलेहिया ।
 जयं परिट्टवेज्जा,
॥

(५।१।८१)

तरुणियं व छिवाडि,
 आमियं भज्जियं सइं ।
 देतियं पडियाइक्खे,
 न मे कप्पइ तारिसं ॥
 (५।२।२०)

असणं पाणं वा वि,
 खाइम साइमं तहा ।
 जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा,
 दाणट्ठा पगडं इमं ॥
 पुण्णट्ठा " " ॥
 वणिमट्ठा " " ॥
 समणट्ठा पगडं इम ॥
 तं भवे भत्तपाणं तु,
 संजयाण अकप्पियं ।
 देतियं पडियाइक्खे,
 न मे कप्पइ तारिस ॥

(५।१।४७, ४९, ५१, ५२, ५४)

...एगंतमवक्कमेत्ता...तओ संजयामेव
 परिट्ठावेज्जा ।

(२।१।१।४)

...तरुणियं वा छिवाडि अणभिवक्कंत-
 भज्जियं पेहाए, अफामुयं अणेसणिज्जंति
 मण्णमाणे लाभे सत्ते णो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।१।५)

जं पुण जाणिज्जा, असणं वा (४)
 बहवे '.... समणमाहणअतिहिक्खिणवणीमए
 पगणिय पगणिय समुदिस्स पाणाइं वा (४)
 जाव समारब्भ आसेवियं वा अफामुयं
 अणेसणिज्जंति मण्णमाणे लाभे सत्ते जाव
 णो पडिगाहिज्जा ।

(२।१।१।१५)

उद्देश्य	कीयगड,
पूर्वकम्प	आहड्ड ।
अभ्योग	पामिकुनं,
मीसजाय	वज्जण ॥
	(५११५५)

“आहाकमियं वा, उहेसियं वा, मीसजायं
वा, कीयगहं वा, पामिच्चं वा, अच्चेज्जं वा,
अणिसट्ठं वा, अमिहं वा, आहट्ठं दिज्ज-
माणं भुज्जं... अभिसंधारिज्जा
गमणाए ।

(२।१।२।२७)

न	चरेज्ज	वासे	वासते,
महियाए	व		पडतीए ।
महावाए			वायते,
तिग्घिसंपाइमेमु			वा ॥
			(५।१।८)

तिव्वदेसियं वारां वासमाणं पेहाण्...
 णो.....पविसिज्ज वा णिक्खमिज्ज वा
 गामाणगामं द्दुज्जेज्जा ।

(२११।३।३८)

आवाय	विसमं	त्रा०,
विज्जल		परिविज्जए ।
सकमेण	न	गच्छेज्जा,
विज्जमाणे		परक्कमे ॥
		(५।१।४)

ओवाओ वा, खाणू वा, कंटए वा,
घसी वा, भिलूगा वा, विसमे वा, विज्जले...
णो उज्जयं मन्हेज्जा ।

(३१२१५१५९)

साणीपादारपिहियं ,
 अप्पणा नावपगुरे ।
 कवाड नो पणोल्लेज्जा,
 ओग्गहंसि अजाइया ॥
 (५।१।१८)

गाहावडकुलस्स दुवारवाहं कंटक-
बोदियाए परिपिहियं पेहाए तेसि पुव्वामेव
उमगहं अण्णुनविय अपहिलेहिय अपमग्गिय
पो अवंगुणिज्ज वा, पविसिज्ज वा, णिक्ख-
मिज्ज वा ।

(२११५५२)

समणं माहणं वा वि,
 किविणं वा वणीमणं ।
 उवसकमंत भत्तट्ठा,
 पाणट्ठाए व सजए ॥
 (५।२।१०)

तं अडक्कमित्तु न पविमे,
 न चिट्ठे चक्खु-गांयरे ।
 एगंतमवक्कमित्ता ,
 तत्थ चिट्ठेज्ज सजए ॥
 (५।२।११)

पडिनेहिणं व दिन्ने वा,
 तओ तम्मि नियत्तिणं ।
 उवसकमेज्ज भत्तट्ठा,
 पाणट्ठाए व सजए ॥
 (५।२।१३)

अमगल फलिह दार,
 कवाड वा वि सजए ।
 अवलबिया न चिट्ठेज्जा,
 गोयग्गगओ मणी ॥
 (५।२।१६)

तत्थेव पडिलेहेज्जा,
 भूमिभाग वियक्खणो ।
 सिणाणस्स य वच्चस्स,
 संलोग पग्गिज्जाए ॥
 (५।१।५)

आलोयं थिग्गलं दार,
 संधि दगभवणाणि य ।
 चरंतो न विणिज्झाए,
 संकट्ठाण विवज्जए ॥
 (५।१।१५)

समणं वा, माहणं वा, गामपिडोलभं
 वा, अतिहि वा, पुव्वपविट्ठं पेहाए णो ते
 उवाडक्कम्म पविसेज्ज वा ओभासेज्ज वा से
 तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा अणावायमसंलोए
 चिट्ठेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा—

पडिसेहिणं वा दिन्ने वा तओ तम्मि
 नियत्तिणं मज्जगामेव पविसेज्ज वा ओभा-
 सेज्ज वा ।

(२।१।५८)

नो गाहावडकुलस्स दुवारसाह अव-
 लंबिय ० चिट्ठेज्जा णो गाहा-
 वडकुलस्स मिणाणम्म वा वच्चम्म वा संलोए
 मपडिदुवार चिट्ठेज्जा णो गाहावडकुलस्स
 आलोय वा थिग्गलं वा संधि वा दगभवणं
 वा बाहाउ पग्गिज्झिअ..... ।

(२।१।६।५६)

पुरेकम्मणेण हत्थेण,
 दब्बीए भायणेण वा ।
 देंतियं पडियाइक्खे,
 न मे कप्पइ तारिसं ॥
 (५।१।३२)
 (एव) उदओल्ले सत्तिणिढे,
 ससरक्खे मट्ठिया उस्से ।
 हरियाले हिगुलए,
 मणोसिला अंजणे कोणे ॥
 (५।१।३३)
 गेरुय वणिय सेडिय,
 सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस का य ।
 उक्कट्ठमसंसट्ठे ,
 संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥
 (५।१।३४)

तहप्यगारेण पुरेकम्मकएणं हत्थेण वा
 (४) असणं वा (४) अफासुयं अणेसणिज्जं
 जाव णो पडिगाहेज्जा, अह पुण एव
 जाणेज्जा णो उदउल्लेणं एवं
 ससरक्खे, मट्ठिया, उस्से, हरियाले, हिगुलए,
 मणोसिला, अंजणे, कोणे, गेरुय, वन्निय,
 सेडिय, सोरट्ठिय, पिट्ठ, कुक्कुस, उक्कुट्ठ
 संसट्ठेण ।

(२।१।६।६३)

असंसट्ठेण हत्थेण,
 दब्बीए भायणेण वा ।
 दिज्जमाणं न इच्छेज्जा,
 एक्खद्वाकम्मं जहि भवे ॥
 (५।१।३५)
 संसट्ठेण हत्थेण,
 दब्बीए भायणेण वा ।
 दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा,
 जं तत्थेसणियं भवे ॥
 (५।१।३६)

अह पुण एव जाणेज्जा, णो असंसट्ठे,
 संसट्ठे । तहप्यगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा
 (४) असणं वा (४) फासुयं जाव
 पडिगाहेज्जा ।

(२।१।६।६४)

निस्सेणि फलगं पीढं,
उस्सविस्सणमारुहे ।
मचं कीलं च पासायं,
समणट्ठाए व दावए ॥

(५।१।६७)

दुरुहमाणी पवडेज्जा,
हत्यं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिसेज्जा,
जे य तन्निस्सिया जगा ॥

(५।१।६८)

एयाग्गिसे महादोसे,
जाणिऊण महेंसिणो ।
तम्हा मालोहड भिक्ख,
न पडिगेण्हंति सजया ॥

(५।१।६९)

दगवाएण पिहियं,
नीसाए पीढएण वा ।
लोद्वेण वा वि लेवेण,
सिलेवेण व केणई ॥
तं च उब्बिदिया देज्जा,
समणट्ठाए व दावए ।
देंतियं पडियाइक्खे,
न मे कप्पड तारिसं ॥

(५।१।४५, ४६)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे से ज्जं
पुण जाणेज्जा असणं वा (४) खंभंसि वा,
यंभंसि वा, मंचंसि वा, मालंसि वा, पासा-
यंसि वा, हिम्मियतलंसि वा, अन्नयरंसि वा,
तहप्पगारंसि अन्नलिक्खजायंसि उवणिक्खत्ते
मिया, तहप्पगारं मालोहडं असणं वा (४)
अफामुयं जाव णो पडिगाहिज्जा ।

बेवली ब्या “आयाणमेय”- अस्संजए
भिक्खुपडियाए पीढं वा, फलगं वा, णिम्मेणि
वा, उदूहलं वा, अवहट्ट उम्सविय आरुहेज्जा,
से तत्थ दुरुहमाणे, पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा,
से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा, हत्यं
वा, पायं वा, बाहु वा, ऊरु वा, उदरं वा,
सीसं वा, अण्णयरं वा कायंसि इन्दियजायं
लूसिज्ज वा, पाणाणि वा, भूयाणि वा,
जीवाणि वा, सत्ताणि वा, अभिहणिज्ज वा,
वत्तेज्ज वा, लेसिज्ज वा, संघमेज्ज वा,
संघट्टेज्ज वा, पग्गियावेज्ज वा, किलामेज्ज
वा, ठाणाओ ठाणं संकामेज्ज वा, तं तहप्पगारं
मालोहडं असणं वा (४) लाभे संते णो
पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७।७१, ७२)

.....मट्टियाओलित्तं तहप्पगारं असणं वा
(४) जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

...उब्बिदमाणे...णो पडिगाहेज्जा...

(२।१।७।७४, ७५)

असण पापमं वा वि,
खाइमं साइमं तथा ।
उडगम्मि होज्ज निक्खित्तं,
उत्तिगपगगेसु वा ॥

(५।१।५६)

त भवे भत्तपाणं तु,
सजयाण अकप्पियं ।
देतियं पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिस ॥

(५।१।६०)

असण पाणग वा वि,
खाइम साइम तथा ।
नेउम्मि होज्ज निक्खित्तं,
तं च सवट्ठिया दए ॥

(५।१।६१)

तं भवे भत्तपाणं तु,
सजयाण अकप्पियं ।
देतियं पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिस ॥

(५।१।६२)

(एवं) उस्सक्किया ओसक्किया,
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविद्या ।
उस्सिचिया निस्सिचिया,
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥

(५।१।६३)

तहेवुच्चावयं पाण,
अदुवा वारधोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं,
अट्ठणाधोयं विवज्जए ॥

(५।१।७५)

से जं पुण जाणिज्जा, असणं वा (४) आउ-
कायपइट्ठियं चेव एव अगणिकायपइट्ठियं
लाभे संति णो पडिगाहेज्जा, 'केवली बूया'—
“आयाणमेयं” अस्संजए भिक्खूपडियाए
अगणि ओसक्किय २ णिसिक्किय २ ओह-
रिय २ आहट्टु, दलएज्जा । अह भिक्खूणं
पुब्बोवदिट्ठा जाव णो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७।७७)

.... 'तंजहा उस्सेइमं वा, संसेइमं वा,
चाउलोदगं वा, अण्णयरं वा तहप्पगारं
पाणगजायं, अट्ठणाधोयं, अणं बिलं, अवोक्कंतं,
अपरिणयं... णो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७।८१)

ज जाणेज्ज चिराधोय,
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा,
ज च निस्संकिय भवे ॥
(५।१।७६)

सालुय वा विगालिय,
कुमुदुप्पलनालिय ।
मृणालिय सासवनालियं,
उच्छृयड अविबुडं ॥
(५।२।१८)

नरुणग वा पवाल,
एक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स,
आमग परिवज्जाए ॥
(५।२।१९)

... ..
... ..
... ..सिगवेर च,
आमग परिवज्जाए ॥
(५।१।७७)

उप्पल पउमं वा वि,
कुमुय वा मगदंतिय ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं,
त च सलुचिया दाए ॥
(५।२।१४)

त भवे भत्तपाण तु,
सजयाण अकप्पियं ।
इतियं पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिसं ॥
(५।२।१५)

.....अह पुण एवं जाणेज्जा, चिराधोयं,
अंखिलं, वुक्कंतं, परिणयं, विद्धत्थं, फामुयं
जाव पडिगाहेज्जा ।

(२।१।७।८२)

...से उज्जं पुण जाणेज्जा, सालुयं वा,
विरालियं, सामवणालियं वा, अण्णतरं वा
तहपगारं आमगं, अमत्थपरिणयं, अफामुयं
जाव णो पडिगाहेज्जा ।

(५।१।८।८८)

...सिगवेरं वा सिगवेरचुल्लं वा अण्णतरं
वा तहपगारं आमगं अमत्थपरिणयं अफामुयं
जाव णो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८।८९)

...मे उज्जं पुण जाणेज्जा, उप्पलं वा,
उप्पलं नालं वा, भिमं वा, भिसमुणालं वा,
पोक्खलं वा, पोक्खलविभंगं वा, अण्णतरं
वा तहपगारं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८।९६)

तहा कोलमणुस्सिन्नं,
वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडग नीमं,
आमगं परिवज्जए ॥
(५।२।२१)

... से जं पुण जाणिज्जा, अत्थियं वा,
कुम्भपक्कं, तिदुगं वा,
वेलुयं वा, कासवणालियं वा,
अण्णतरं वा आमं असत्थपरिणयं जाव णो
पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८।१००)

तहेव चाउल पिट्ठं,
वियड वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ एड पिन्नाग,
आमगं परिवज्जए ॥
(५।२।२२)

... से जं पुण जाणिज्जा, कण वा कण-
कुडगं वा, कणपुयलियं वा, चाउलं वा,
चाउलपिट्ठ वा, तिलं वा, तिलपिट्ठं वा,
तिलपप्पडगं वा, अन्नतरं वा, तहप्पगारं
आमं असत्थपरिणयं जाव लाभे सति णो
पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८।१०१)

तहेव फलमय्णि,
बीयमय्णि जाणिया ।
बिहेलग पियाल च,
आमगं परिवज्जए ॥
(५।२।२४)

से जं पुण मय्हुजायं जाणिज्जा, तजहा-
उवरमंथुं वा, णमोहमंथुं वा, पिलुक्खुमंथुं
वा, आसोत्थमंथुं वा अण्णयर वा तहप्पगार
मंथुजाय आमयं दुरुक्कं साणुवीयं अफासुयं
णो पडिगाहेज्जा ।

(२।१।८।१०३)

सिया एगइओ लद्धं,
लोभेण विणिगूहई ।
मा मेयं दाइयं संतं,
दट्ठूणं सयमायए ॥
(५।२।३१)

... मामेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए,
आयरिए वा जाव.....णो किंचिदि
णिगूहेज्जा ।

(२।१।१०।११३)

सिया एगइओ लद्धं
विविहं पाणभोयणं ।
भद्गं भद्गं भोक्खा,
विवण्णं विरसमाहरे ॥
(५।२।३३)

से एगइओ अण्णतरं भोयणजायं पडिगाहेस्ता,
भद्गं भद्गं भोक्खा, विवन्नं विरसमाहरे
माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा ।

(२।१।१०।११४)

बहु-अट्टियं पुगाल,
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थियं तिट्ठियं बिल्लं,
उच्छुखडं व सिबल्लि ॥
(५।१।७३)

अप्पे सिया भोयणजाए,
बहु - उज्झिय - धम्मिए ।
दंत्थियं पडियाडक्खे,
न मे कप्पड तारिसं ॥
(५।१।७४)

चउण्हं खलु भासाणं
परिसंखाय पन्नवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे,
दो न भासेज्ज सब्बतो ॥
(७।१)

जा य सच्चा अवत्तव्वा,
सच्चा मोसा य जा मुमा ।
जा य बुद्धं हिंसाइत्ता,
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥
(७।२)

तद्देव काणं काणे त्ति,
पंढणं पंढणे त्ति वा ।
वाह्मियं वा वि रोगि त्ति,
तेणं चोरे त्ति नो वए ॥
(७।१२)

‘से ज पुण जाणेज्जा, बहुअट्ठियं वा
मंस वा, मच्छं वा बहुकटय अस्सि खलु
पडिगाहियमि अप्पेसिया भोयणजाए बहु-
उज्झियधम्मिए—तहप्पगारं बहुअट्ठिय वा
मस वा, मच्छ वा बहुकटय लाभे मंते जाव
णो पडिगाहेज्जा ।

(७।१।१०।११६)

अह भिक्खु जाणेज्जा चत्तारि भासज्जायाइं
तज्जा—सच्चमंग पडमं भासजायं, बीय
मोस, तइय मच्चा मोस, जं णेव सच्च णेव
मोस नेव सच्चा मोस असच्चा मोस णाम
तं चउत्थ भासजातं ।

(२।४।१।७)

‘‘‘‘‘जा य भासा सच्चा, जा य भासा
मोसा ‘‘‘‘‘तहप्पगारं भासं सावज्जं
मकिरियं ‘‘‘‘‘णो भासेज्जा ।

(२।४।१।१०)

‘‘‘‘ ‘णो एवं वएज्जा, तंजहा—गंडी
गंडी ति वा, कुट्टी कुट्टी ति वा, ‘‘‘

(२।४।१।१६)

अज्जए पज्जए वा वि,
अम्भो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति,
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥
(७।१५)

.....इत्थिं आमतेमाणे आम्भस्सिए य अपडि-
सुणेमाणी नो एवं वएज्जा—होली वा
गोली वा इत्थीगमेणं जेतव्वं ।
(२।४।१।१४)

हले हले त्ति अन्ने त्ति,
भट्टे साम्मिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति,
इत्थियं नेवमालवे ॥
(७।१६)

नामधिज्जेण णं बूया,
इत्थीगोत्तेण वा पुण्णो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥
(७।१७)

इत्थियं आमतेमाणे आम्भस्सिए य अपडि-
सुणेमाणी एवं वएज्जा,—आउसो त्ति वा
भगिणि त्ति वा भगवइ त्ति वा.....
(२।४।१।१५)

अज्जए पज्जए वा वि,
बण्णो कुल्लफिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति,
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥
(७।१८)

.. पुम आमतेमाणे आमत्तिहे वा अपडि-
सुणेमाणे णो एवं वएज्जा—होले त्ति वा
गोले त्ति वा वसुले त्ति वा
(२।४।१।१२)

हे हो हले त्ति अन्ने त्ति,
भट्टा साम्मिय गोमिइ ।
होल गोल वसुले त्ति,
पुरिसं नेवमालवे ॥
(७।१९)

नामवेज्जेण णं बूया,
 पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
 जहारिहमभिगिज्झ
 ,
 आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥
 (७।२०)

तहेव मेहं व नहं व माणबं,
 न देव देव त्ति गिरं वएज्जा ।
 सम्मुच्छिण्ण उन्नण, वा पओण,
 वएज्ज वा वुट्ठ बलाहण, त्ति ॥
 (७।५२)

अंतलिक्खे त्ति णं बूया,
 गुज्झाणुचरिय त्ति य ।
 रिद्धिमंतं नरं दिस्स,
 रिद्धिमंतं त्ति आलवे ॥
 (७।५३)

सुकडे त्ति सुपक्के त्ति,
 सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
 मृनिट्ठिण सुलट्ठे त्ति,
 सावज्जं वज्जा, मुणी ॥
 (७।४१)

तहेव मणस्सं पसुं,
 पक्खि वा वि सरीसिवं ।
 थूले पमेइले वज्जे,
 पाइमे त्ति य नो वए ॥
 (७।२२)

..... पुमं आमतेमाणे आमंतिए वा अपडि-
 सुणेमाणे एवं वएज्जा अमुणे त्ति वा
 आउसो त्ति वा आउसंतो त्ति वा.....।
 (२।४।१।१३)

.....णो एवं वएज्जा, णभोदेवे त्ति वा
 गज्जदेवे त्ति वा विज्जदेवे त्ति वा पवुट्ठदेवे
 त्ति वा निवुट्ठदेवे त्ति वा .
 (२।४।१।१६)

.....अंतलिक्खे त्ति वा गुज्झाणुचरिए त्ति
 वा संमुच्छिण्ण त्ति वा णिवइए त्ति वा
 पओएवणज्ज वा वुट्ठबलाहणे त्ति वा.....।
 (२।४।१।१७)

.....णो एवं वएज्जा, तजहा—सुकडे त्ति
 वा सुट्ठकडे त्ति वा साहुकडे त्ति वा कल्लाणे
 त्ति वा करणिज्जे त्ति वा एयप्पमारं भासं
 सावज्जं जाव णो भासेज्जा ।
 (२।४।२।२३)

मणस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिमं वा
 पसु वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलयरं
 वा से त्त परिवूडकायं पेहाए णो एवं
 वएज्जा—थूले त्ति वा पमेइले त्ति वा वट्ठे
 त्ति वा वज्जे त्ति वा.....
 (२।४।२।२५)

परिवुद्धे त्ति णं बूया,
बूया उवचिए त्ति य ।
संजाए पीणिए वा वि,
महाकाए त्ति आलवे ॥
(७२३)

मणुस्सं जाव जलयरं वा से तं परिवुद्धकायं
पेहाए एवं वएज्जा तं जहा परिवुद्धकाए ति
वा, उवचियकाए ति वा.....चियमंस-
सोणिए ति वा.....

(२१४।२।२६)

तहेव गाओ दुज्झाओ,
दम्मा गोरहग त्ति य ।
वाहिमा रहजोग ति,
नेवं भासेज्ज पन्नवं ।
(७२४)

.....गाओ पेहाए णो एवं वएज्जा,
तंजहा—गाओ दोज्झाओ ति वा दम्मे ति
वा गोरह ति वा वाहिम ति वा रहजोम
ति वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो
भासेज्जा ।

(२१४।२।२७)

जुव गवे त्ति णं बूया,
धेणुं रसदय ति य ।
रहम्से महल्लए वा वि,
वा संवहणे ति य ॥
(७२५)

.....गाओ पेहाए एवं वएज्जा तंजहा
—जुवंगवे ति वा धेणु ति वा रसवड ति
वा हस्से ति वा महल्लए ति वा महव्वए
ति वा संवहणे ति वा एयप्पगारं भासं
असावज्जं जाव अभिक्खं भासेज्जा ..

(२१४।२।२८)

तहेव गतमुज्जाण,
पव्वयाणि वणाणि य ।
खक्खा महल्ल पेहाए,
नेव भासेज्ज पन्नवं ॥
(७२६)

.....तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वयाइं
वणाणि य खक्खा महल्ला पेहाए णो एवं
वएज्जा, तंजहा—पासायजोग्गा ति वा
गिहजोग्गा ति वा तोरणजोग्गा ति वा....।

(२१४।२।२९)

अल पासायखंभाणं,
तोरणणं गिहाण य ।
फल्लहगलनावाण ,
अल उदगदाणण ॥
(७२७)

तहेव गंतुमुज्जाणं,
पक्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए,
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥
(७।३०)

जाडमंता इमे रुक्खा,
दीहवट्टा महाल्ल्या ।
पयायसाला विडिमा,
वण दरिसणि त्ति य ॥
(७।३१)

तहा फलाड पक्काइं,
पायखज्जाइं नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइं,
वेहिमाड त्ति नो वए ॥
(७।३२)

असंथडा इमे अंबा,
बहुनिवट्टिमा फला ।
वएज्ज बहुसंभूया,
भूयरुव त्ति वा पुणो ॥
(७।३३)

तहेवोसहीओ पकाओ,
नीलियाओ छवीडय ।
लाडमा भज्जिमाओ त्ति,
पिहुलज्ज त्ति नो वए ॥
(७।३४)

...तहेव गंतुमुज्जाणाइं पक्वयाणि वणाणि
य रुक्खा महल्ला पेहाए एवं वएज्जा,
तंजहा—जातिमता इवा दीहवट्टा त्ति वा
पयायसाला त्ति वा विडिममाला त्ति वा ।
(२।४।२।३०)

... बहुसंभूया वणफला पेहाए तहावि ते
णो एव वएज्जा तंजहा—पक्का त्ति वा
पायखज्जाणि वा वेलोचिया त्ति वा टाला
त्ति वा वेहिया त्ति वा एयप्पगार भासं
सावज्ज जाव णो भासेज्जा ।
(२।४।२।३१)

बहुसंभूया वणफला अंबा पेहाए
एव वएज्जा, तंजहा—असंथडा त्ति वा
बहुनिवट्टिमफला त्ति वा बहुसंभूया त्ति वा
भूयरुवि त्ति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं
जाव भासेज्जा ।
(२।४।२।३२)

बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए
तहावि ताओ णो एव वएज्जा, तंजहा—
पक्का त्ति वा नीलिया त्ति वा छवीया त्ति
वा लाडमा त्ति वा भज्जिमा त्ति वा
बहुलज्जा त्ति वा ।
(२।४।२।३३)

रूढा बहुसम्भूया,
थिरा उस्तडा वि य ।
गन्धियाओ पसूयाओ,
ससाराओ ति आलवे ॥
(७।५)

.....बहुसम्भूयाओ ओसहीओ पेहाए
तहावि एवं वएज्जा, तंजहा—रूढा ति वा
बहुसम्भूया ति वा थिरा ति वा उस्तडा ति
वा गन्धिया ति वा पसूया ति वा ससारा
ति वा .

(२।४।२।३४)

तहेव सावज्जणमोयणी गिरा,
ओहाग्णि जाय पगेवघाडणी ।
मे कोह लोह भयसा व माणवो,
न हासमाणो वि गिर वएज्जा ॥
(७।५४)

काहं च माण च माय च लोभ च अणुवीड
णिट्ठाभासी णिसम्म भासी अतुरियभासी
विवेगभासी.....।

(२।४।२।३८)

सवक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी,
गिर च दुट्ठ परिवज्जए सया ।
मिय अदुट्ठं अणुवीड भासए,
सयाण मज्जे लहई पससण ॥
(७।५५)

१२—दशवैकालिक का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव

दशवैकालिक का उल्लेख श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों परम्पराओं में है। नंदी के अतिरिक्त तत्त्वार्थ भाष्य और गोम्मटसार में इसे अग-बाह्य श्रुत कहा है।^१ जयघवला के अनुसार यह मातवाँ अंग-बाह्य श्रुत है।^२ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार यत्ता तीन प्रकार के होते हैं—तीर्थंकर, गणधर और आरातीय आचार्य। काल-दोष से आयु, मति और बल न्यून हुए, नव शिष्यों पर अनग्रह कर आरातीय आचार्यों ने दशवैकालिक आदि आगम रचे। घड़ा क्षीर-समुद्र के जल में भग हुआ है, उसमें घड़े का अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है वह क्षीर-समुद्र का ही है, इसलिए उस घड़े के जल में वही मिठास मिलती है जो क्षीर-समुद्र में होती है। इसी प्रकार जो आरातीय आचार्य किसी प्रयोजनवश पूर्वों या अंगों में किसी अग-बाह्य श्रुत की रचना करते हैं, उसमें उनका अपना नया तत्त्व कुछ भी नहीं होता, जो कुछ होता है वह अंगों में गृहीत होता है इसलिए वह प्रामाणिक माना जाता है।^३

दशवैकालिक के श्लोको का उत्तरवर्ती साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। यापनीय संघ में दशवैकालिक का अध्ययन होता या और वे इसे प्रमाण भी मानते थे। यापनीय संघ के आचार्य अपराजित मूरि ने भगवती आराधना की वृत्ति (विजयोदया) में दशवैकालिक का प्रयोग किया है।^४

१—(क) तत्त्वार्थ भाष्य, १।२०।

(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ३६७ :

दशवेयालं च उत्तरऊर्ध्वयणं ।

२—कषायपाटुड (जयघवला सहित) भाग १, पृष्ठ १३।२५ ।

३—सर्वार्थसिद्धि, १।२० :

आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संभ्रितायुर्मतिबलशित्यानुग्रहार्थं दशवै-
कालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेवमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव ।

४—मूलाराधना, आश्वास ४, श्लोक ३३३, वृत्ति, पत्र ६११ ।

(क) दशवैकालिकायाम् उक्तं—

गमनस्त य पुण्डस्त य दीहलोमणस्त य ।

मेढृणादो विरतस्त किं विमूसा करिस्तसि ॥

(ख) आचारप्रणिधौ भणितं—

प्रतिलिखेत् पात्रकम्बलं ध्रुवमिति । असत्सु पात्राविषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं
क्रियते ।

१. बहिरङ्ग परिचय : दशवैकालिक का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव ७३

आवश्यक निर्युक्ति, निशीथचूर्ण, उत्तराध्ययन बृहद्बृत्ति तथा उत्तराध्ययन चूर्ण में दशवैकालिक की गाथाओं का उद्धरण अथवा उसका उपयोग विविध प्रसंगों पर हुआ है। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४१, वृत्ति पत्र १४९ में दशवैकालिक के खलुर्ष अध्ययन “छज्जीवणिया” का “बड्जीवनिका” के रूप में उल्लेख हुआ है—
देखिए पृष्ठ ४० की पाद-टिप्पणी।

२—निशीथ चूर्ण विभाग	पृष्ठ	दशवैकालिक के स्थल
१	७	५।२।५
१	१३	१।१
१	१०६	५।१।८
१	१६३	७।४७
२	१२५	५।२।३३
२	१२६	५।१।९८
२	३५९	६।८
२	३६३	खू०२।१२
३	४८३	८।२६
३	५४७	५।१।७४
४	३९	५।२।८
४	३२	५।१।७३; ६।६०
४	३३	८।४०
४	१४३	८।५७
४	१५७	खू०२।५
४	२७२	४। सू०१३

३—उत्तराध्ययन बृहद्बृत्ति	पत्र	दशवैकालिक के स्थल
१।३१ वृत्ति	५९	५।२।६
२।१३ वृत्ति	६४	६।१९, २१
३।१३ वृत्ति	१८६	९।२।२
५।३१ वृत्ति	२५४	८।६०
१५।२ वृत्ति	४१५	५।२।१ भावि-भावि।

४-उत्तराध्ययन चूर्णि :	पृष्ठ	दशवैकालिक के स्थल
१।३४ चूर्णि	४०	५।१।२४
२।४१ चूर्णि	८३	चू०१।सू०१८
५।१८ चूर्णि	१३७	५।१।९४ आदि-आदि ।

शय्यम्भव मे पहले उत्तराध्ययन आचारांग के पश्चात् पढा जाता था किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् इस क्रम में परिवर्तन हुआ और वह दशवैकालिक के पश्चात् पढा जाने लगा ।^१ तेरापंथ-सघ मे नव-दीक्षित मुनि को प्रारम्भ में यही सूत्र पढाया जाता है । अन्य सम्प्रदायो मे भी यही प्रथा है । दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार दशवैकालिक आरातीय आचार्य-कृत अंग-बाह्य श्रुत है । परन्तु माना जाता है कि वह आज उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध है, वह अप्रमाण है ।^२

१-(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, वाचा ३ ।

(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २ :

उत्तरज्जयणा पुञ्च आचारस्सुवरि आसि, तत्त्वेव तेसि उबोद्धात संबंधा-
निवत्थाणं, ताणि पुण जप्पमिहं अज्जसेज्जंसेवेण मणगपितुणा मणगहियत्वाए
णिज्जुहियाणि इस अज्जयणाणि इसवियालिय मिति, तम्मि चरणकरणाणु-
योगो बणिज्जति, तप्पमिहं च तस्सुवरि ठविसाणि ।

(ग) उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति, पत्र ५ :

आचारस्स्योपर्येव—उत्तरकालमेव 'इमानी'ति ह्रदि विपरिवर्तमानतया
प्रत्यक्षाणि, पठितवन्त इति गम्यते, 'तुः' विशेषणे, विशेषश्चायं यथा—शय्यम्भव
याचवेव क्रमः, तथाऽस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्त इति ।

२-जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३ ।

१३—तुलना (जैन, बौद्ध और वैदिक)

भारतीय जन-मानस जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों धाराओं से अभिविस्तृत रहा है । इन तीनों में अत्यन्त नैकट्य न भी रहा, तो भी उनके अन्तर्दर्शन में अत्यन्त दूरी भी नहीं रही । यही कारण है कि उन तीनों में एक दूसरे का प्रतिबिम्ब मिलता है । कौन किस का श्रेणी है, यह सहजतया नहीं कहा जा सकता । सत्य की सामान्य अभिव्यक्ति सब में है और इसी को हम तुलनात्मक अध्ययन कहते हैं । सत्य एक है । उसकी किसी के साथ तुलना नहीं होती । उसकी शब्दों में जो समान अभिव्यक्ति होती है, उसी की तुलना होती है ।

इस सूत्र के कतिपय पद्यों की बौद्ध तथा वैदिक साहित्य के पद्यों से तुलना होती है । कही-कही शब्दसाम्य और कही-कहीं अर्थसाम्य भी है । वह यो है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,
अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमसस्ति,
जस्स धम्मो सया मणो ॥
(११)

यस्मिं सञ्च च धम्मो च,
अहिंसा संयमो दमो ।
स वे वंत्तमलो धीरो,
सो धेरोति पबुञ्चति ॥
(धम्मपद १६१)

जहा दुमस्स पुप्फेसु,
भमरो आवियड रस ।
न य पुप्फं किलामेइ,
सो य पीणेइ अप्पय ॥
(१२)

यथापि भमरो पुप्फं,
वण्ण-गंधं अहेठय ।
पलेति रसमादाय,
एव गामे मुनी चरे ॥
(धम्मपद ४१६)

कहं नु कुज्जा सामण्णं,
जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीयंतो,
संकप्पस्स वसं गओ ॥
(२१)

कतिहं चरेय्य सामञ्जं,
वित्तं चे न निवारए ।
पदे पदे विसीदेय्य,
सङ्कप्पानं वसानुणो ॥
(संयुत्तनिकाय ११११७)

धिरत्यु ते जसोकामी,
जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउ,
सेयं ते मरणं भवे ॥
(२१७)

धिरत्यु तं विसं वन्तं,
यमह जीवितकारणा ।
वन्तं पञ्चावमिस्सामि,
मतम्मे जीविता वरं ॥
(विसवन्त जातक ६६)

उदेसिय कीयगड,
नियागमभिहडाणि य ।
गडभत्ते सिणाणे य,
गंधमल्ले य वीयणे ॥
सन्निही गिहिमत्ते य,
गयपिडे किमिच्छण ।
मंबाहणा दंतपहोयणा य,
संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥
(३१२, ३)

केस-रोम-नख-श्मश्रु-मलानि बिभृयाद् दत्त ।
न घावेदस्म मज्जेत त्रिकालं म्यण्डिलेशय ॥
(भागवत ११।१८।३)

ध्रुवणेत्ति वमणे य,
वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य,
गायामंगविभूसणे ॥
(३१६)

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मदं स्त्र्यवलेखामिवं मधु ।
'स्रग्गन्धलेपालंकारौस्त्यजेयुयं धृतवता ॥
(भागवत ७।१२।१२)

आयावयति गिम्हेसु,
हेमतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसलीणा,
संजया सुसमाहिया ॥
(३।१२)

ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्याद्, वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयस्तपः ॥
(मनुस्मृति ६।२३)

कहं चरे ? कह चिट्ठे, ?
कहमासे ? कह सए ? ।
कह भुजन्तो भासन्तो, ?
पावं कम्मं न बंधई ? ॥
(४।७)

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत् ब्रजेत किम् ॥
(गीता २।५४)

जयं चरे जय चिट्ठे,
जयमासे जयं सए ।
जयं भुजन्तो भासन्तो,
पावं कम्मं न बंधई ॥
(४।८)

यतं चरे यतं तिष्ठे यतं अच्छे यतं मये ।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू, यतमेनं पसारए ॥
(इतिवृत्तक १२)

सव्वभूयप्पभूयस्स ,
सम्मं भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स,
पावं कम्मं न बंधई ॥
(४।९)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा,
विजितात्मा जितेन्द्रिय ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा ,
कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गीता ५।७)

पदमं नाण तओ दया,
 एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
 अन्नाणी किं काही ?
 किं वा नाहिइ छेय पावणं ? ॥
 (४।१०)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
 (गीता ४।३८)

कालेण निक्खमे भिक्खू,
 कालेण य पडिक्कमे ।
 अकालं च विवज्जेत्ता,
 काले कालं समायरे ॥
 (५।२।४)

काले निक्खमणा साधु,
 नाकाले साधु निक्खमो ।
 अकालेनहि निक्खम्म,
 एकर्कपि बहूजनो ॥
 (कोशिक जातक २२६)

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति,
 जीविषं न मरिज्जिउ ।
 तम्हा पाणवहं घोर,
 निग्गंथा बज्जयंति णं ॥
 (६।१०)

सव्वा दिमा अनुपरिगम्म चेतसा,
 नेवग्गमा पियतरमत्तता क्वचि ।
 एवं पियो पुट्ठु अत्ता परेसं,
 तम्मा न हिसे परमत्तकामो ॥
 (मंयुत्तनिकाय १।३।८)

उवसमेण हणे कोह,
 ॥
 (८।३८)

अक्कोधेन जिने कोथं ।
 (धम्मपद १।७।३)

यंभा व कोहा व मयप्पमाया,
 गुत्तस्सगासे विणयं न सिक्ख ।
 सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
 फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥
 (९।१।१)

यो सासनं अरहूतं अरियानं धम्मजीविनं ।
 पटिक्कोसति दुम्मेषो दिट्ठि निस्साय पापिकं ।
 फलानि कट्टकम्सेव अत्ताघञ्जाय फुल्लति ॥
 (धम्मपद १२।८)

तद्देव असण पाणमं वा,
विबिह खाइमसाइमं लभित्ता ।
होही अट्ठो सुए परे वा,
तं न निहे न निहावए जे
स भिक्खू ॥
(१०।८)

अन्नानमथो पानानं,
खादनीयानमथो पि वत्थानं ।
लद्धा न सन्निधिं कयिरा,
न च परित्तसे तानि अलभमानो ॥
(मुत्तनिपात ५२।१०)

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा,
न य कुप्पे निहुइदिए पसंते ।
सजमधुवजोगजुत्ते ,
उवसते अविहेइए जे
स भिक्खू ॥
(१०।१०)

न च कत्थिता सिया भिक्खू,
न च वार्चं पयुतं भासेय्य ।
पागम्भियं न सिक्खेय्य,
कथं विमाहिकं न कथयेय्य ॥
(मुत्तनिपात ५२।१६)

जो सहइ हु गामकंटे,
अक्कोसपहारतज्जणाओ य ।
भयभेरवसदसंपहासे ,
समसुहुदुक्खसहे य जे
स भिक्खू ॥
(१०।११)

भिक्खुनो विजिगृच्छतो, भजतो रित्तमासनं ।
कक्खमूलं सुसानं वा, पब्बतानं गृहामु वा ॥
उप्पवावचेसु, सयनेसु, कीवन्तो तत्थ भेरवा ।
ये हि भिक्खु न वेधेय्य, निग्घोसे सयनासने ॥
(मुत्तनिपात ५४।४,५)

हत्थसजए पायसंजए,
वायसंजए संजइदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा,
मुत्तत्थं च वियाणई जे
स भिक्खू ॥
(१०।१५)

हत्थसयनो पादसंयतो,
वाचाय संयतो संयतुत्तमो ।
अज्झत्तरतो समाहितो,
एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ॥
(धम्मपद २५।३)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
 उच्छं चरे जीवि एनाभिकंखे ।
 इद्धि च सक्कारण पूयणं च,
 चए ठियप्पा अणिहे जे
 स भिक्खू ॥
 (१०।१७)

चक्खूहि नेव लोलस्स,
 गामकयाय आवरये सोतं ।
 रसे च नानृगिज्जेय्य,
 न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मि ॥
 (मुत्तनिपात ५२।८)

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय २

अन्तरंग परिचय

१-साधना

समग्र-दर्शन :

निर्युक्ति आदि व्याख्याओं के अनुसार हम दशवैकालिक के विषय की मीमांसा कर चुके हैं। अब स्वतंत्र दृष्टि से इस पर विचार करेंगे। परिच्छेदों के क्रम से यह अनेक भागों में बँटा हुआ है। पर समग्र-दृष्टि से देखा जाए तो यह अहिंसा का अवण्ड दर्शन है।

अहिंसा परम धर्म है। दोष सब महावन उसी के प्रकार है।^१ भगवान् महावीर के आचार का केन्द्र-बिन्दु अहिंसा है। उन्होंने भिक्षु के लिए आचार और अनाचार, विधि और निषेध तथा उत्सर्ग और अपवाद का जो रूप स्थिर किया, उसका मौलिक आधार अहिंसा है। कुछ विधि-निषेध संयमी जीवन की सुरक्षा^२ और कुछ प्रवचन-गौरव^३ (संघीय महत्त्व) की दृष्टि से भी किए गए हैं, किन्तु वे भी अहिंसा की मीमांसा में पड़े नहीं हैं। जो निषेध अहिंसा की दृष्टि में किए गए हैं, उनका विधान नहीं किया, उनको अनाचार की कोटि में ही रखा। किन्तु जिनका निषेध निमित्तता की दृष्टि में किया, उनका विशेष स्थिति में विधान भी किया।

अहिंसा धर्म का एक रूप है और उसका दूसरा रूप है परीषह-सहन।^४ दूसरे रूप की अभिव्यक्ति 'देहे दुक्खं महाफलं' (८।२.७)—देह में दुःख उत्पन्न होता है, उसे सहन करना महान् फलदायी है—इन शब्दों में हुई है। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने और संचित कर्म-फल को नष्ट करने के लिए भगवान् ने परीषह-सहन का उपदेश दिया।^५

१-अगस्त्य बृजि :

अहिंसा परमो धम्मो, सेसाणि महब्बताणि एतस्सेव अत्यबिसेसगाणि ।

२-दशवैकालिक, ५।२।३ ।

३-बही, ५।२।१२ ।

४-सुत्रकृतांग, १।२।१।१४ वृत्ति :

अविहिंसामेव पब्बए, अणुधम्मो मुणिणा पबेवितो ॥ अनुगतो—मोक्षं प्राप्तुकुलो धम्मोऽनुधर्मः असावहिंसाक्षणः, परीषहोपसर्गसहनलक्षणस्य धर्मो 'मुनिना' सर्वज्ञेन 'पबेवितः' कथित इति ।

५-तत्त्वार्थसूत्र, ९।८ :

मार्गाध्ययननिर्जार्थं परितोद्व्याः परीषहाः ।

विनय के बिना ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना सम्पन्न नहीं हो सकती और धर्म-शासन की व्यवस्था नहीं बन सकती, इसलिए भगवान् ने विनय को धर्म का मूल कहा है ।^१

साधना का उत्कर्ष अप्रमाद से होता है । अप्रमाद के मुख्य साधन हैं—स्वाध्याय और ध्यान । नीद, अट्टहास और काम-कथा—ये उनके बाधक हैं, इसलिए भगवान् ने कहा—नीद को बहुमान मत दो, अट्टहास मत करो और काम-कथा मत करो ।^२

निष्कर्ष की भाषा में—(१) अहिंसा और उसके विविध पहलू सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि, (२) संयमी जीवन की सुरक्षा, (३) प्रवचन-मौरव, (४) परीपह-सहन; (५) विनय और (६) साधना का उत्कर्ष—ये मूलभूत दृष्टियाँ हैं । इनके द्वारा भगवान् महावीर के आचार-निरूपण की यथार्थता देली जा सकती है । सारे विधि-निषेधों को एक दृष्टिकोण में देखने पर जो असमंजसता आती है, वह सम्प्र-दृष्टि से देखने पर नहीं आती । आचार-दर्शन की ये दृष्टियाँ वे रेखाएँ हैं, जिनका एकीकरण निरन्तर के जीवन का सजीव चित्र बन जाता है ।

साधना के उत्कर्ष का दृष्टिकोण :

साधना का उत्कर्ष पाण्डु बिना साध्य नहीं सधता । सिद्धि का मतलब है साधना का उत्कर्ष । आत्मार्य का साम्य मोक्ष होता है । उसका माधन है धर्म । उसकी साधना के तीन अंग हैं—अहिंसा, संयम और तप । इनसे तादात्म्य पाने का नाम 'योग' है । आचार्य हर्गिन्द्र ने मोक्ष से जोड़ने वाले समूचे धर्म-व्यापार को योग माना है ।^३ आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपायभन सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को योग कहा है ।^४

१—दशवैकालिक, ९।२।२ :

एवं धम्मस्स बिणओ मूलं ।

२—वही, ८।४१ ।

३—योगबिन्दु, ३१ :

मोक्षेण जोगणाओ, जोगो सज्जो बि धम्म-वावारी ।

४—(क) योगशास्त्र :

मोक्षेण योजनाद योगः ।

(ख) अभिधानचिन्तामणि, १।७७ :

मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धान्तरणात्मकः ।

योग शब्द यज्ञ धातु से बनता है । उसके दो अर्थ हैं—जोड़ना और समाधि । पहले सम्बन्ध होता है फिर समाधि । मन आत्मा के साथ जुड़ता है, फिर स्थिर होता है । इसीलिए कहा है—मन, वाणी और कर्म को श्रमण-धर्म से जोड़ो । जो श्रमण-धर्म से युक्त है, उसे अनन्तर-अर्थ (समाधि) की प्राप्ति होती है ।^१ महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का निरूपण किया है ।^२

जैन-परम्परा में प्राणायाम को चित्त-स्थिरता का हेतु नहीं माना गया है ।^३ इसके अतिरिक्त शेष सात अंग अपनी पद्धति से मान्य रहे हैं । श्रमण-धर्म की साधना का प्रारम्भ पाँच महाव्रतों के अंगीकार में होता है । उनका चौथे अध्ययन में व्यवस्थित निरूपण हुआ है । पतंजलि के शब्दों में ये यम हैं ।^४

शौच, मन्त्रोष, तप, स्वाध्याय और आत्मप्रणिधान का आठवें अध्ययन में बड़ी सूक्ष्म-दृष्टि से निरूपण हुआ है ।^५ जैन-दृष्टि भाव-शौच को ही प्रधानता देती है और बाह्य-शौच नहीं मान्य है, जो भाव-शौच के अन्तर्गत हो ।^६ इसी प्रकार उमें आत्मा और

१—दशवैकालिक, ८।४२ ।

२—पातंजल योगदर्शन, २।२९ :

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

३—(क) पातंजल योगदर्शन, १।३४ यशोविजयजी कृत वृत्ति :

अनैकान्तिकमेतत्, प्रसह्य ताभ्यां मनो व्याकुलीभावान् 'उत्सासं ण जिहंमइ'
इत्यादि पारमर्षेण तन्निवेधान्, इति ।

(ख) योगशास्त्र, ६।४० :

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं, प्राणायामैः कर्त्तव्यतम् ।

प्राणस्यायमने पीडा, तस्यां स्थान् चित्तचिप्लवः ॥

(ग) आबश्यक निर्युक्ति, गाथा १५२० वृत्ति :

मगबत्प्रवचने तु व्याकुलताहेतुत्वेन निषिद्ध एव श्वासप्रश्वासरोधः...

प्राणारोध पलिनम्यस्थानतिप्रयोजनत्वात् तदुक्तं—'उत्सासं ण जिहंमइ' ।

४—पातंजल योगदर्शन, २।३०, ३१ :

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

जातिवेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ।

५—बही, २।३२ :

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

६—बही, २।३२ यशोविजयजी कृत वृत्ति :

मावसौचानुपरोध्येव द्रव्यशौचं बाह्यमादेयमिति तत्त्ववर्तिनः ।

ईश्वर का मौलिक भेद मान्य नहीं है। आत्मा का विकसित रूप ही परमात्मा है। जो आत्मा का प्रणिधान है, वही ईश्वर-प्रणिधान है।^१ ध्यान करने के लिए काय-व्युत्सर्ग (शरीर के स्थिरीकरण) को प्रमुखता दी है।

आसन करना जैन-परम्परा को इष्ट रहा है। पतंजलि जिसे 'प्रत्याहार' कहते हैं, उसे जैनागम की भाषा में इन्द्रिय-निग्रह कहा गया है।^२ धारणा का व्यापक रूप यतना है।^३ मंथन के लिए जो प्रवृत्ति की जाए, उसी में उपयुक्त (तच्चित्त) होना, दूसरे सारे विषयों से मन को हटा कर उसी में लगा देना यतना है।^४ जैन-साहित्य में समाधि शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। किन्तु उसका अर्थ पतंजलि के समाधि शब्द में भिन्न है।^५ उसकी तुलना शून्ध-ध्यान में होती है। समाधि या ध्यान का चरम रूप शैलेशी अवस्था है।^६ इस प्रकार प्रस्तुत आगम में योग के बीज छिपे पड़े हैं। आत्म-विकास के लिए इन्हें विकसित करना आवश्यक है। जो श्रमण इस ओर ध्यान नहीं देता, उसके विनिष्ट ज्ञान का उदय होते-होते रुक जाता है। जो श्रमण बार-बार स्त्री भक्त, देश और राज-सम्बन्धी कथा करता है, विवेक और व्युत्सर्ग से आत्मा को भावित नहीं करता, राज के पहले और पिछले प्रहर में धर्म-जागरिका नहीं करना और शूद्र भिक्षा की सम्यक् गवेपणा नहीं करना, उसके विनिष्ट ज्ञान का उदय होते-होते रुक जाता है।^७ विनिष्ट ज्ञान का लाभ उसे होता है, जो विकथा नहीं करता, विवेक और व्युत्सर्ग से आत्मा को भावित करता है तथा पूर्व-रात्रि और अपर-रात्रि में धर्म-जागरण पूर्वक जागता है और शूद्र भिक्षा की सम्यक् गवेपणा करता है।^८ प्रस्तुत आगम में इस भावना का बहुत ही सूक्ष्मता में निरूपण हुआ है। इसके लिए पाद-टिप्पण में निर्दिष्ट मूल द्रष्टव्य है।^९

१-समाधिशतक, ३१

यः परात्मा स एवाहं योज्हं स परमस्ततः ।

अहमेव मयोपास्थो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

२-दशवैकालिक, ३।११ ।

३-वही, ४।८ ।

४-पातंजल योगदर्शन, ३।१ : देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

५-वही, ३।३ तदेवार्थमात्रनिर्वासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

६-दशवैकालिक, ४।२४ ।

७-स्थानांग, ४।२।२८४ ।

८-वही, ४।२।२८४ ।

९-दशवैकालिक (भा० २), पाँचवाँ अध्ययन ; ८।१४; तथा बूलिका २।१२ ।

२—साधना के अंग

अहिंसा का दृष्टिकोण :

निग्रन्थ के साधनामय जीवन का प्रारम्भ महाव्रत के स्वीकार से होता है। वे पाँच हैं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अहिंसा शाश्वत धर्म है। भगवान् महावीर ने इसका निरूपण किया, इससे पहले अतीत के तीर्थंकर इसका निरूपण कर चुके थे और भविष्य के तीर्थंकर भी इसका निरूपण करेंगे।^१ संक्षेप में यही महाव्रत है। विस्तार की ओर चले तो अहिंसा और अपरिग्रह महाव्रत के ये दो रूप बन जाते हैं।^२ अहिंसा, सत्य और बहिस्नान-आदान—यह तीन महाव्रतों का निरूपण है।^३ प्राणालिपान-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण और बहिस्तात्-आदान-विरमण—यह चातुर्याम धर्म हैं।^४ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महाव्रत हैं।^५ रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है।^६ जैन आगमों के अनुसार बाईस तीर्थंकरों के समय चातुर्याम धर्म रहा है और पहले (ऋषभदेव) तथा चौबीसवें तीर्थंकर (महावीर) के समय पंचमहाव्रतात्मक धर्म रहा।^७ एक, दो और तीन महाव्रतों की परम्परा रही या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु हिंसा और परिग्रह पर स्थानाग^८ आदि में अधिक प्रहार किया गया है, इसमें लगता है कि असंयम

१—आचारंग, १।४।१।२७।

२—सूत्रकृतांग, २।१।

३—आचारंग, १।८।१।१९७ :

जामा तिणि उदाहिंसा।

४—स्वानांग, ४।१।२६६।

५—उत्तराध्ययन, २१।१२।

६—यशवैकालिक, ४।सूत्र १७।

७—उत्तराध्ययन, २३।२३, २४।

८—स्वानांग, २।१।६४।

का मूल इन्हीं को माना गया। अहिंसा ही धर्म है, शेष महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं—यह विचार आगम के उत्तरवर्ती-साहित्य में बहुत दृढ़ता से निरूपित हुआ है।^१

धर्म का मौलिक रूप सामायिक-चारित्र—समता का आचरण है। इसके अखण्ड रूप को निश्चय-दृष्टि में अहिंसा कहा जा सकता है और व्यवहार-दृष्टि में उसे अनेक भागों में बाँटा जा सकता है। आचारांग के निर्युक्तिकार ने संयम का सामान्यतः एक रूप माना है और भेद करते-करते वे उसे अठारह हजार की संख्या तक ले गए हैं।^२ उन्होंने निरूपण, विभाजन और जानकारी की दृष्टि में पाँच महाव्रत की व्यवस्था को सरलतम माना है।^३

पाँच महाव्रतों को दशवैकालिक की आत्मा मानें तो शेष विषय को उमका पोषक-तत्त्व कहा जा सकता है।

महाव्रतों की भावनाएँ :

पाँच महाव्रतों की सुरक्षा के लिए पचीस भावनाएँ हैं।^४ नीचे बाईं ओर प्रश्न-

१—(क) पंचसंग्रह :

एकं चिय एकवयं, निहिदं जिणवरेहि सखेहि ।

पाणाइवायविरमण, सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा ॥

(ख) हारिमग्गीय अष्टक, १६।५ :

अहिंसैवा मता मुल्या, स्वर्गमोअप्रसाधनी ।

एतत्संरअणार्थं च, न्याय्यं सत्याविपालनम् ॥

(ग) हारिमग्गीय अष्टक, १६।५ वृत्ति :

अहिंसाशत्यसंरअणे वृत्तिकल्पत्वाण सत्याविव्रतानाम् ।

२—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २९३, २९४ ।

३—वही, गाथा २९५ ।

४—(क) आचारांग निर्युक्ति, गाथा २९६ :

तेसि च रक्खणट्ठाय, भावणा पंच पंच इक्किक्के ।

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ७।३ :

तत्त्वैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ।

व्याकरण से एवं दाहिनी ओर आचारांग से प्रत्येक महाव्रत की भावनाएँ दी जा रही हैं ।

१-अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

१—ईया-समिति ^१	१—ईया समिति
२—अपाप-मन (मन-समिति) ^२	२—मन-परिज्ञा
३—अपाप-वचन ^३ (वचन-समिति)	३—वचन-परिज्ञा
४—गणना-समिति ^४	४—आदान-निक्षेप-समिति
५—आदान-निक्षेप-समिति ^५	५—आलोकित-पान-भोजन

२-सत्य महाव्रत की भावनाएँ

१—अनवीचि-भाषण	१—अनवीचि-भाषण ^१
२—क्रोध-प्रत्याख्यान	२—क्रोध-प्रत्याख्यान ^२

१-प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार १

ठाणगमणमुणजोगजुंजणजुगंतरणिवाइयाए दीट्टिएईरियळं ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ५।१।३ ।

२-बही, संवरद्वार १ :

ण कयावि मणेण पावएणं पावणं किंचि वि भायळं ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ८।६२ ।

३-बही, संवरद्वार १ :

वइए वाबियाए पावणं ण किंचि वि भासियळं ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ७।५६ ।

४-बही, संवरद्वार १ :

आहारएसणाए मुद्धं उच्छं गबेसियळं—अहिंसए संजए मुसाहू ।

मिलाइए—पौषर्वा अध्ययन (विशेषतः भोगवैषा का प्रकरण) ।

५-बही, संवरद्वार १ :

अप्पमत्तेण होइ सययं निक्खियळं य निणिहयळं ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ५।१।८५, ८६ ।

६-आचारांग, २।३।१५ :

अणुवीइमासी से निमंये ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ७।५५ ।

७-बही, २।३।१५ :

कोहं परियाणइ से निमंये ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ७।५४ ।

३—लोभ-प्रत्याख्यान

३—लोभ-प्रत्याख्यान^१

४—अभय (भय-प्रत्याख्यान)

४—अभय^२

५—हास्य-प्रत्याख्यान

५—हास्य-प्रत्याख्यान^३

३-अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ

१—विविक्तवास-वसति^४

१—अनुवीचि-मितावग्रह-याचन

२—अभीक्षण-अवग्रह-याचन^५

२—अनुज्ञापित-पान-भोजन

३—शय्या-ममिति^६

३—अवग्रह का अवधारण

१—आचारांग, २।३।१५

लोभं परियाणइ से निमांये ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

२—वही, २।३।१५ :

नो भयभीए सिपा ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

३—वही, २।३।१५ :

हासं परियाणइ से निमांये ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

४—प्रत्ययाकरण, संवरद्वार ३ .

अंतो बहि च असंजमो जत्थ बड्ढती संजयाण अट्ठा बज्जेयव्वो हु उवस्तमो से तारिसए सुत्तपडिक्कुट्ठे । एवं विवित्तवासवसहिंसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५१, ५२ ।

५—वही, संवरद्वार ३ :

जे हणि हणि उमाहं अणुत्तविषय गिण्हियव्वं ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ६।१३; ८।५ ।

६—वही, संवरद्वार ३

पीडफलसेज्जासंधारगट्ठयाए क्खो न छिंदियव्वो न छेदणेण भेयणेण-सेज्जा कारेयव्वा जत्तेव उवत्तसे वसेज्जा सेज्जं तत्थेव गवेसेज्जा, न य बिसमं समं करेज्जा ।

मिलाइए—दशवैकालिक ८।५१ ।

४—साधारण-पिंड-पात्र लाभ^१

४—अभीक्षण-अवग्रह-याचन

५—विनय-प्रयोग^२

५—साधार्मिक के पास से अवग्रह-याचन

४—ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ

१—असंसक्त-वास-वसति^३

१—स्त्रियो में कथा का वर्जन

२—स्त्री-जन में कथा-वर्जन^४

२—स्त्रियो के अंग-प्रत्यंगों के

अवलोकन का वर्जन

३—स्त्रियो के अंग-प्रत्यंग और चेष्टाओं के
अवलोकन का वर्जन^५

३—पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन

१—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ३ :

साह्रारणपिण्डपातलामे भोतब्धं संजण समियं न सायसुपाहिकं, न खडं न वेगितं, न तुरियं, न चबलं, न साहसं, न य परस्स पीलाकर सावज्जं तह भोतब्धं जह से ततियवयं न सीदति ।

मिलाइए—दशबैकालिक, अध्ययन ५ ।

२—वही, संवरद्वार ३ :

साहम्मिए विणओ पउंजियब्बो, उवकरण पारणासु विणयो पउंजियब्बो दागगहणपुञ्जणासु विणओ पउंजियब्बो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियब्बो, अन्नेसु य एवमाविसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउंजियब्बो, विणओवि तवो तवोविधम्मो तम्हा विणओ पउंजियब्बो, गुरुसु साहसु तवस्सीमु य, विणवो पउंजियब्बो ।

मिलाइए—दशबैकालिक, अध्ययन ९ ।

३—वही, संवरद्वार ४ :

इत्थिसंसत्तत्तंसकिल्हा अण्णे वि य उवमाइ अवगासा ते ह बज्जजिज्जा ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ८।५१, ५२ ।

४—वही, संवरद्वार ४ :

णारीजणस्स मज्जे न कहियव्वा कहा ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ८।५२ ।

५—वही, संवरद्वार ४ :

णारीणं हसियं नयियं न चक्खुसा न मणसा वयसा पत्थेयव्वाइं ।

मिलाइए—दशबैकालिक, ८।५३, ५४, ५७ ।

४—पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन^१

४—अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन

५—प्रणीत-रस-भोजन का वर्जन^२५—स्त्री आदि से संसक्त शय्यासन का वर्जन^३

५—अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

१—मनोज और अननोज शब्द में समभाव	१—मनोज और अननोज शब्द में समभाव
२— " " " रूप " "	२— " " " रूप " "
३— " " " गन्ध " "	३— " " " गन्ध " "
४— " " " रस " "	४— " " " रस " "
५— " " " स्पर्श " "	५— " " " स्पर्श " "

भावनाओं की पूरी शब्दावलि की दशवैकालिक के साथ तुलना की जाए, तो उसका बहुत बड़ा भाग महाव्रतों की तुलना करते दिखाई देगा। इस दृष्टि में कहा जा सकता है कि दशवैकालिक पाँच महाव्रतों और उनकी पचीस भावनाओं की व्याख्या है।

संयमी जीवन की मुग्धा का दृष्टिकोण :

शिष्य ने पूछा —“भगवन् ! यह लोक छह प्रकार के जीव-निकायो से लबालब भरा हुआ है फिर अहिंसा पूर्वक शरीर धारण कैसे हो सकता है ? उसके लिए जाना, खड़ा होना, बैठना, खाना और बोलना—ये आवश्यक है। ये किए जाएँ तो हिंसा होती है, इस स्थिति में श्रमण क्या करे ? वह कैसे चले, खड़ा रहे, बैठे, सोए, खाए और बोले ? यह प्रश्न अहिंसा और जीवन-व्यवहार के संघर्ष का है। समग्र दशवैकालिक में इसी का समाधान है। संक्षेप में शिष्य को बताया गया कि यत्नापूर्वक चलन, खड़ा रहने, बैठने, सोने, खाने और बोलने वाला अहिंसक रह सकता है। यत्ना कैसे की जाए, इसकी व्याख्या ही दशवैकालिक का विस्तार है। यह सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति के संयम का दृष्टिकोण है। आत्मसंयम होने के लिए निवृत्ति, उसकी प्राप्ति में आने

१—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ४ :

पुष्करय पुष्पकीलिय विरह समिह जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्या ।

२—वही, संवरद्वार ४ :

आहारपणीयसिद्धनोयणविवरज्जए ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५६ ।

३—आचारार्ण, २।३।१५ ।

वाली बाधाओं को पार करने और केवल उसी के निमित्त शरीर-धारण करने के लिए सत्प्रवृत्ति आवश्यक है—यह जैन दर्शन का धार्मिक दृष्टिकोण है। इसके अनुसार हिंसा मात्र, भले फिर वह प्रयोजनवश की जाए या निष्प्रयोजन ही - असत्प्रवृत्ति है। धार्मिक दृष्टिकोण से वह सर्वथा अमान्य है। इसीलिए साधना की विशेष भूमिका में निवृत्ति और सत्प्रवृत्ति ही मान्य हुई है। सत्प्रवृत्ति के द्वारा निवृत्ति के चरम शिखर पर पहुँचने के लिए शरीर-धारण आवश्यक है, इसलिए सत्प्रवृत्तिमय (संयममय) शरीर-धारण के लिए भी इसमें पर्याप्त विधि-निषेध किए गए हैं।

प्रवचन-गौरव का दृष्टिकोण :

भगवान् महावीर ने केवली होने के अनन्तर तीर्थ का प्रवर्तन किया। उनके चार अंग बने—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। वैयक्तिक साधना में लोक-व्यवहार की दृष्टि से विचार करना आवश्यक नहीं होता। संघ की स्थिति इसमें भिन्न होती है। वहाँ लोक-दृष्टि की सर्वथा उपेक्षा नहीं होती। इसलिए धर्म-विरुद्ध आचरण की भौति लोक-विरुद्ध आचरण भी किसी सीमा तक निषिद्ध माना गया है।^१ प्रतिक्रुष्ट कुल से भिक्षा लेने के निषेध का कारण संघ की लघुता न हो, यही है।^२

इस प्रकार के और भी अनेक नियम हैं, जिनके निर्माण का मूल लोक-दृष्टि की सापेक्षता है। जहाँ तक साधना की मौलिकता का प्रश्न है, वहाँ लोक-दृष्टि को महत्त्व नहीं दिया जा सकता किन्तु जहाँ मृत्यु की घात नहीं हो, वहाँ लोकमत की सर्वथा उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। आगम-काल से लेकर व्याख्या-काल तक जैन-परम्परा का यह स्पष्ट अभिमत रहा है।

१—प्रशमरति प्रकरण १३१, १३२ :

लोकः सत्त्वाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मान् ।

तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥

वेहो न साधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य ।

सद्धर्मानुपरोधात् तस्माल्लोकोऽभिगमनीयः ॥

मिलाइए - ब्रह्मकालिक, ५।१।१८ ।

२—हारिमन्नीय टीका, पत्र १६६ :

प्रतिक्रुष्टकुलं द्विविधम्-इत्वरं यावत्कथिकं च । इत्वरं—सूतकपुत्रं,

यावत्कथिकम्—अमोज्यम् । एतन्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसंगान् ।

परीषद्-सहन का दृष्टिकोण :

साधना के क्षेत्र में काय-क्लेश बहुत ही विवादास्पद रहा है। कहीं इसका ऐकान्तिक समर्थन मिलता है, कहीं इसके संयत-प्रयोग का समर्थन मिलता है तो कहीं इसका अनावश्यक विरोध भी मिलता है। भागवत और मनुस्मृति में वानप्रस्थ और संन्यासी के लिए जिस आचार का विधान किया है, उसमें जितना आग्रह कोरे कष्ट-सहन का है, उतना अहिंसा का नहीं है। वानप्रस्थ की ऋतुचर्या का उल्लेख करते हुए कहा गया है—“वह ग्रीष्म-ऋतु में पंचाग्नि तपे, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रह कर वर्षा की बौछार महे, जाड़े के दिनों में गले तक जल में डूबा रहे। इस प्रकार घोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करे।”^१ जैन-परम्परा अहिंसा-प्रधान रही, इसलिए वहाँ श्रमण की ऋतुचर्या का इन शब्दों में वर्णन किया गया है—“सुममाहिनं निग्रन्थं ग्रीष्मं मे सूर्यं की आनापना लेते है, हेमन्त में खुले वदन रहते है और वर्षा में प्रतिसंलीन—एक स्थान में रहने वाले होते है।”^२ जैन-परम्परा ने मुखवाद का खण्डन किया और अहिंसा का आग्रह रखते हुए यथाशक्ति कष्ट-सहन का समर्थन किया। “मुख मे मुख मिलता है”—इस मान्यता के अनुसार चलने वाले अहिंसा का आग्रह नहीं रख सकते। वे थोड़ी-सी बाधा होने पर कतरा जाते हैं।^३ ‘आत्म-हित दुःख में मिलता है’^४ इसका तात्पर्य यह नहीं कि कष्ट-सहन से आत्म-हित होता है, किन्तु यहाँ बताया गया है कि आत्म-हित कष्ट-साध्य है। कष्ट-सहन आत्म-हित का एक साधन है और इसलिए कि अहिंसा की साधना करने वाला कष्ट आ पड़ने पर उसमें विचलित न हो जाए।^५ अतः कहा गया है कि परीषद् में

१-क) भागवत, ११।१८।४

ग्रीष्मे तप्येत पंचाग्नीन्, वर्षास्वासारषाड् जले ।

आकण्ठमन्नः शिशिरे, एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥

(ख) मनुस्मृति, ६।२३ :

ग्रीष्मे पंचाग्नितापः स्याद, वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।

आर्द्रावासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्षयन्तपः ॥

२-दशवैकालिक, ३।१२ ।

३-सूत्रकृतांग, १।३।४।६-८ :

इहमेगे उ भासंति मेहृणे य परिगहे ।

४-बही, १।२।१।३० ।

अतर्हियं लु दुहेण लगमइ ।

५-बही, १।२।१।१४ :

अबिहिंसाभेवपव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥

मृष्ट होने पर मुनि उनसे पराजित न हो—अनाचार का सेवन न करे ।^१ साधना में चलते-चलते जो कष्ट आ पड़ते हैं, उन्हें सम्यक्-भाव में सहन करने वाले को निर्जरा (कर्मक्षय) होती है ।^२

मांस और रक्त के उपचय से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है ।^३ इसलिए कहा है कि अनयान के द्वारा शरीर को कृश करो ।^४ शरीर के प्रति जिनका अत्यन्त वैराग्य हो जाता है, जो पौद्गलिक पदार्थों को आत्मा में सर्वथा पृथक् करने के लिए चल पड़ते हैं, वे तपस्वी विण्मूढ तपस्या के द्वारा मंचित कर्म-मल को धो डालते हैं ।^५

कष्ट-महन जैन-परम्परा का लक्ष्य नहीं रहा है। वह केवल साधन रूप से स्वीकृत है ।^६ जैन-परम्परा में तप का अर्थ कोरा कष्ट-महन करना नहीं है। आत्म-शुद्धि के दो साधन हैं संवर और तप। संवर के द्वारा आगामी कर्म का निरोध और तप के द्वारा पूर्व-मंचित कर्म का क्षय होता है ।^७ भगवान् महावीर ने कर्म-क्षय के ममल साधनों को तप कहा है और उन्हें बाह्य और आभ्यन्तर—इन दो भागों में बाँटा है। वेदों में अधिक कष्ट देने में अधिक कर्म-क्षय होता है—ऐसा अभिमत नहीं है।

१-उत्तराध्ययन, २।४६ :

(क) एए परिसहा सख्ये, कासवेण पवेइया ।

जे मिक्खू न बिहन्हेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्ठुई ॥

(ख) सूत्रकृतांग, १।२।१।१३ :

से पुट्ठे अहियासए ।

२-स्थानांग, ५।१।४०९ :

सम्मं सहमाणस्स जाअ अहियासेमाणस्स कि मन्ने कज्जति ? एगंतसो मे णिज्जरा कज्जति ।

३-स्थानांग, ४।४।३५६ ।

४-सूत्रकृतांग, १।२।१।१४ वृत्ति :

किसए वेहमणासणाइहि—अनशनादिभिर्वेहं 'कर्शयेन'—अपचितमांसशोणितं चिदध्यायत ।

५-सूत्रकृतांग, १।२।१।१५ ।

६-जसट्ठाए कीरति नग्गमावे.....अंतं करेति ।

७-उत्तराध्ययन, ३०।१-६ ।

गौतम ने पूछा—“भगवन् ! (१) महावेदना और महानिर्जरा, (२) महावेदना और अल्पनिर्जरा, (३) अल्पवेदना और महानिर्जरा, (४) अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा—क्या ये विकल्प हो सकते हैं ?”

भगवान् ने कहा—“हाँ गौतम ! हो सकते हैं ।”^१

यहाँ दो विकल्प—दूसरा और तीसरा—ध्यान देने योग्य हैं ।

भगवान् ने अनशन, काय-क्लेश आदि को बाह्य-तप और स्वाध्याय, ध्यान आदि को आभ्यन्तर-तप कहा है ।^२ वे आत्मिक पवित्रता के लिए जमे आभ्यन्तर-तप को आवश्यक मानते थे, वैसे ही इन्द्रिय और मन को समाहित रखने के लिए बाह्य-तप को भी आवश्यक मानते थे ।

भगवान् ने छह कारणों में आहार करने की अनुमति दी, वैसे ही छह कारणों में आहार न करने की आज्ञा दी ।^३

इस विचारधारा में संयत काय-क्लेश और ध्यान दोनों का समन्वय है, इसलिए यह तप और ध्यान के ऐकान्तिक आयुह के बीच का मार्ग है—मध्यम मार्ग है ।^४

भगवान् ने अहिंसा का विवेक किये बिना तप तपने वालों को इहलोक-प्रत्यनीक (वर्तमान जीवन का शत्रु) कहा है ।^५

१—भगवती, ६।१ ।

२—उत्तराध्यायन, ३०।७, ८, ३० ।

३—वही, २६।३१-३४ :

छण्हं अन्नयरामंमि कारणंमि समुट्ठिए ॥
वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥
निमंघो धिइमन्तो निमंघी चि न करेज्ज छहि वेव ।
ठाणेहि तु इमेहि अणइक्कमणा य से होइ ॥
आयंके उवसणो तित्तिक्खया बभवेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउं सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥

४—दशवैकालिक, ८।६२ :

सज्जायसज्जाणरयस्स ताइणो अपावमावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकइं समीरियं हणमलं व जोइणा ॥

५—भगवती, ८।८ वृत्ति :

इहलोकपण्डिणीए—इह लोकस्य प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात् पंचाऽभितपस्विबबिह लोकप्रत्यनीकः ।

भगवान् की दृष्टि में बाह्य-तप की अपेक्षा मानसिक आर्जव अधिक महत्त्वपूर्ण था । उन्होंने कहा—“कोई तपस्वी नम्र रहता है, शरीर को कृश करता है और एक महीने के बाद भोजन करता है किन्तु मायाचार को नहीं त्यागता, वह अन्त-काल तक संसार से मुक्ति नहीं पाता ।”^१

भगवान् ने चमत्कार-प्रदर्शन और पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से किए जाने वाले तप का विरोध किया । उनका यह आग्रह था कि तप केवल आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से ही किया जाय ।^२

“निर्ग्रन्थ का आचार भीम है, अन्यत्र ऐसे परम दुश्चर आचार का प्रतिपादन नहीं है”^३—यह जो कहा है, उसके पीछे कठोर चर्या की दृष्टि नहीं है । इसे अहिंसा की सूक्ष्म-दृष्टि से परम दुश्चर कहा है । समूचा छठा अध्याय इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाला है । सूत्रकृतांग (१।११।५) में अहिंसात्मक मार्ग को महाघोर कहा है ।

गीता में श्रद्धापूर्वक, फल की आकांक्षा से रहित किए गए तप को सात्त्विक, सत्कार आदिके उद्देश्य और दम्भ से किए गए तप को राजस तथा दूसरे का विनाश करने के लिए अविवेकपूर्ण निश्चय से शरीर को पीड़ा पहुँचाकर किए गए तप को तामस कहा है ।^४

महात्मा गौतम बुद्ध ने काय-क्लेश को अनावश्यक बतलाया । उन्होंने कहा—“साधु को यह दो अतियौं सेवन नहीं करनी चाहिए । कौनसी दो ? (१) जो यह हीन, ग्राम्य, अनाडी मनुष्यों के (योग्य), अनार्य (-सेवित) अनर्थों से युक्त, कामवासनाओं में लिप्त होना है, और, (२) जो दुःख (-मय), अनार्य (-सेवित) अनर्थों से युक्त आत्म-पीडा में लगना है । भिक्षुओ ! इन दोनों ही अतियों में न जाकर, तथागत ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जोकि) आँख-देनेवाला, ज्ञान-करानेवाला, शान्ति के लिए, अभिज्ञा के लिए, परिपूर्ण-ज्ञान के लिए और निर्वाण के लिए है ।”^५

१—सूत्रकृतांग, १।२।१।९ ।

२—वसिष्ठकालिक, ९।४। सू० ६ ।

३—बही, ६।४ ।

४—गीता, १७।१७-१९ :

अद्वया परया तप्तं तपस्तत्रिभिर्धं नरेः ।

अफलाकांक्षिर्निर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तत्रिह प्रोक्तं राजसं क्लमद्भुषम् ॥

बुद्ध्याहेयात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

५—विनय-पिटक, पृष्ठ ८०-८१ ।

महात्मा बुद्ध ने काय-क्लेश का विरोध किया पर वह मात्रा-भेद से साधना के क्षेत्र में आवश्यक होता है, इसलिए उसका पूर्ण बहिष्कार भी नहीं कर सके। काश्यप के प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा—“काश्यप ! जो लोग ऐसा कहते हैं—‘श्रमण गौतम सभी तपश्चरणों की निन्दा करता है, सभी तपश्चरणों की कठोरता को बिल्कुल बुरा बतलाना है’—ऐसा कहने वाले मेरे बारे में ठीक से कहने वाले नहीं हैं, मेरी भूठी निन्दा करते हैं। काश्यप ! मैं विशुद्ध और अलौकिक दिव्य-चक्षु से किन्हीं-किन्हीं कठोर जीवन वाले तपस्वियों को काया छोड़ मरने के बाद नरक में उत्पन्न और दुर्गति को प्राप्त देखता हूँ। काश्यप ! मैं किन्हीं-किन्हीं कठोर जीवन वाले तपस्वियों को मरने के बाद स्वर्गलोक में उत्पन्न और सुगति को प्राप्त देखता हूँ। किन्हीं-किन्हीं कम कठोर जीवन वाले तपस्वियों को मरने के बाद नरक में उत्पन्न और दुर्गति को प्राप्त देखता हूँ। काश्यप ! किन्हीं-किन्हीं कम कठोर जीवन वाले तपस्वियों को मरने के बाद स्वर्गलोक में उत्पन्न सुगति को प्राप्त देखता हूँ।

“जब मैं काश्यप ! इन तपस्वियों की इस प्रकार की अगति, गति, च्युति (=मृत्यु) और उत्पत्ति को ठीक से जानता हूँ फिर मैं कैसे सब तपश्चरणों की निन्दा करूँगा ? सभी कठोर जीवन वाले तपस्वियों की बिल्कुल निन्दा, शिकायत करूँगा ?”^१

साध्य की प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध ने जो सम्यक् व्यायाम का निरूपण किया है, वह कठोर चर्या का ज्वलंत रूप है।

“और भिक्षुओ, अनुरक्षण-प्रयत्न क्या है ? एक भिक्षु प्रयत्न करता है, जोर लगाता है, मन को काबू में रखता है कि जो अच्छी बातें उस (के चरित्र) में आ गई हैं वे नष्ट न हों, उत्तरोत्तर बढ़ें, विपुलता को प्राप्त हों। वह समाधि निमित्तों की रक्षा करता है। भिक्षुओ, इसे अनुरक्षण-प्रयत्न कहते हैं।

“(वह सोचता है)—चाहे मेरा मांस-रक्त सब सूख जाये और बाकी रह जायें केवल त्वक्, नसें और हड्डियाँ, जब तक उसे जो किसी भी मनुष्य के प्रयत्न से, शक्ति से पराक्रम से प्राप्य है, प्राप्त नहीं कर लूँगा, तब तक चैन नहीं लूँगा। भिक्षुओ, इसे सम्यक्-प्रयत्न (व्यायाम) कहते हैं।”^२

परीषद्-सहन का जो दृष्टिकोण भगवान् महावीर का रहा है, उसे महात्मा बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा है :

१—बीज-विकाय, पृष्ठ ६१।

२—बुद्ध-वचन, पृष्ठ ३७।

“भिक्षुओ, जिसने कायानुस्मृति का अभ्यास किया है, उसे बढाया है, उस भिक्षु को दस लाभ होने चाहिएँ। कौन से दस ?

१—वह अरति-रति-सह (=उदासी के सामने डटा रहने वाला) होता है। उसे उदासी परास्त नहीं कर सकती। वह उत्पन्न उदासी को परास्त कर विहरता है।

२—वह भय-भैरव-सह होता है। उसे भय-भैरव परास्त नहीं कर सकता। वह उत्पन्न भय-भैरव को परास्त कर विहरता है।

३—शीत, उष्ण, भूख-व्यास, डंक मारने वाले जीव, मच्छर, हवा, धूप, रेंगेवाले जीवों के आघात, दुरुक्त, दुरागत वचनो, तथा दुःखदायी, तीव्र, कटु, प्रतिकूल, अशुचिकर, प्राण-हर्ष शारीरिक पीडाओं को सह सकने वाला होता है।”^१

भगवान् महावीर अज्ञान-कण्ट का विगोष और मयम-पूर्वक कण्ट-सहन का समर्थन करते हैं। इन दोनों के पीछे हिंसा और अहिंसा की दृष्टियाँ हैं, इसलिए इनमें कोई असंगति नहीं है। महात्मा बुद्ध भी कष्ट-सहन का विरोध और समर्थन दोनों करते हैं किन्तु उनके पीछे हिंसा और अहिंसा के स्थिर दृष्टिकोण नहीं हैं, इसलिए उनके विरोध और समर्थन का आधारभूत कारण नहीं मिलता। दीघनिकाय (पृ० ६२-६३) में जिन नियमों को झूठा शारीरिक तप कहा गया है, उनमें बहुत कुछ ऐसे नियम हैं जिनका निर्माण अहिंसा और अपरिग्रह के सूक्ष्म चिन्तन के बाद हुआ है। नम्र रहना, बुलाई भिक्षा का त्याग^२, अपने लिए लाई भिक्षा का त्याग^३, अपने लिए पकाए भोजन का त्याग^४ निमंत्रण का त्याग, दो भोजन करने वालों के बीच से लाई भिक्षा का त्याग^५, गर्भिणी स्त्री द्वारा लाई भिक्षा का त्याग^६, दूध पिलाती स्त्री द्वारा लाई भिक्षा का त्याग^७, वहाँ से भी नहीं (लेना) जहाँ कोई कुत्ता खड़ा हो^८, न मांस, न मछली, ^९ न मुरा^{१०}, न कच्ची

१—बुद्ध-वचन, पृष्ठ ४१।

२—मिलाइए—वशावैकालिक, ६।४८, ४९।

३— ” वही, ६।४९।

४— ” ” ६।४८, ४९।

५— ” ” ५।१।३७।

६— ” ” ५।१।३९, ४०, ४१।

७— ” ” ५।१।४२, ४३।

८— ” ” ५।१।१२, २२।

९— ” ” बूलिका २।७।

१०— ” ” ५।२।३६।

शराब, न चावल की शराब (=तुषोदक) ग्रहण करता है। वह एक ही घर से जो भिक्षा मिलती है लेकर लौट जाता, एक ही कौर खाने वाला होता है, दो घर से जो भिक्षा, दो ही कौर खाने वाला, सात घर ० सात कौर ०। वह एक ही कलछी खाकर रहता है, दो, सात ०। वह एक-एक दिन बीच दे करके भोजन करता है, दो दो दिन, सात सात दिन ०। इस तरह वह आधे-आधे महीने पर भोजन करते हुए विहार करता है।^१

जैन-परम्परा में ये नियम अहिंसा व अपरिग्रह की सूक्ष्म दृष्टि से ही स्वीकृत हैं।

तीसरे अध्ययन में कुछ शारीरिक परिकर्मों को अनाचार कहा है। उसके पीछे भी अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और देहासक्ति के दृष्टिकोण हैं। ये उस समय की सभी श्रमण और ब्राह्मण परम्पराओं में न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकृत रहे हैं।

स्नान महात्मा बुद्ध ने आध-मास में पहले नहाने वाले भिक्षु को प्रायश्चित्त का भागी कहा है। “जो कोई भिक्षु सिवाय विशेष अवस्था के आध-मास में पहले नहाये तो पाचित्तिय है। विशेष अवस्था यह है— ग्रीष्म के पीछे के डेढ़ मास और वर्षा का प्रथम मास, यह ढाई मास और गर्मी का समय, जलन होने का समय, रोग का समय, काम (=लीपने पोतने आदि का समय), रास्ता चलने के समय तथा आँधी-पानी का समय।”^२

भगवान् महावीर ने संघ की आचार-व्यवस्था को नियंत्रित किया, महात्मा बुद्ध ने बंसा नहीं किया। फलस्वरूप संघ के भिक्षु मनचाहा करते और लोगो में उनका अपवाद होता तब बुद्ध को भौति-भौति के नियम बनाने पड़ते। स्नान के सम्बन्ध में ऐसे कई नियम हैं।

उस समय बुद्ध भगवान् राजगृह में विहार करते थे। उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते हुए वृक्ष से शरीर को रगड़ते थे, जंघा को, बाहु को, छाती को, पेट को भी। लोग खिन होते, धिक्कारते थे—‘कैसे यह शाक्य-पुत्रीय श्रमण नहाते हुए वृक्ष से ०, जैसे कि मल्ल (=पहलवान) और मालिश करने वाले’।। भगवान् ने भिक्षुओं को संबोधित किया—“भिक्षुओ! नहाते हुए भिक्षु को वृक्ष से शरीर न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको ‘दुष्कृत’ की आपत्ति है।”

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते समय खम्भे से शरीर को भी रगड़ते थे ०। बुद्ध ने कहा—“भिक्षुओ! नहाते समय भिक्षु को खम्भे से शरीर को न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको दुष्कृत (दुष्कृत) की आपत्ति है।”^४

१-बीघ-निकाय, पृष्ठ ६२-६३।

२-बिनय-पिटक, पृष्ठ २७।

३,४-वही, पृष्ठ ४१८।

छाता, जूता जो भिक्षुणी नोरोग होते हुए छाते-जूते को धारण करे, उसे बुद्ध ने पाबित्तिय कहा है ।^१ जूते, खड़ाऊँ और पायुकाओं के विविध विधि-निषेधों के लिए विनय-पिटक (पृष्ठ २०४-२०८) द्रष्टव्य है ।

भगवान् महावीर ने सामान्यतः जूते पहनने का निषेध किया और स्वविर के लिए चर्म के प्रयोग की अनुमति दी, वैसे ही महात्मा बुद्ध जूता पहने गाँव में जाने का निषेध और विधान दोनों करते हैं ।

उस समय पङ्चवर्गीय भिक्षु जूता पहने गाँव में प्रवेश करते थे । लोग हैरान..... होते थे (१) जेमे काम-भोगी गृहस्थ । बुद्ध ने यह बात कही—“भिक्षुओ ! जूता पहने गाँव में प्रवेश नहीं करना चाहिए । जो प्रवेश करे, उसे दुकट का दोष हो ।”^२

उस समय एक भिक्षु बीमार था और वह जूता पहने बिना गाँव में प्रवेश करने में असमर्थ था । बुद्ध ने यह बात कही—“भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ बीमार भिक्षु को जूता पहन कर गाँव में प्रवेश करने की ।”^३

जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध-परम्परा में भी छाते का निषेध और विधान—दोनों मिलते हैं ।^४

गन्ध, माल्य आदि महात्मा बुद्ध माला, गंध, विलेपन, उबटन तथा सजने-वसने में विरत रहते थे ।^५

स्मृतिकार, पुराणकार और धर्मसूत्रकार ब्रह्मचारियों के लिए गंध, माल्य, उबटन, अंजन, जूते और छत्र-धारण का निषेध करते हैं ।^६

भागवत में वानप्रस्थ के लिए दातुन करने का निषेध किया गया है ।^७

१—विनय-पिटक, पृष्ठ ५७ ।

२,३—बही, पृष्ठ २११ ।

४—बही, पृष्ठ ४३८ ।

५—बीघ-निकाय, पृष्ठ ३ ।

६—(क) मनुस्मृति, २।१७७-१७९ ।

(ख) भागवत, ७।१।१२ :

अजनाभ्यजोन्मर्दस्यबलेक्षामिवं मधु ।

त्वमान्वलेपालंकारास्त्वजेयुर्मे घृतवत्ततः ॥

७—भागवत, १।१।८।३ :

केशरोममङ्गमधुमलानि विनृपावतः ।

न धावेदप्यु मज्जेत, त्रिकालं स्थण्डिलेऽस्य ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण या संन्यासी के लिए कष्ट-सहन और शरीर-परिकर्म के त्याग की पद्धति लगभग सभी परम्पराओं में रही है। ब्राह्मण-परम्परा ने शारीरिक शुद्धि को प्रमुख स्थान दिया है। जैन-परम्परा ने उसे प्रमुखता नहीं दी। अहिंसा और देह-निर्ममत्व की दृष्टि से शरीर-शुद्धि को प्रमुखता न देना कोई बुरी बात नहीं है। साधना की भूमिका का विकास शरीर-शुद्धि से नहीं किन्तु चारित्रिक निर्मलता से होता है। अणु आभा वैज्ञानिक डॉ० जे० सी० ट्रस्ट ने इस विषय का बड़े वैज्ञानिक ढंग से स्पर्श किया है। वे लिखती है—“कई बार मुझे यह देखकर आश्चर्य होता था कि अनेक अशिक्षित लोगों के अणुओं में प्रकाश-रसायन विद्यमान थे। साधारणतः लोग उन्हीं को सच्चरित्र तथा धर्मात्मा मानते हैं, जो ऊँचे घरानों में जन्म लेते हैं, गरीबों में धन आदि बाँटते हैं तथा प्रातः-सायं उपासनादि नित्य-कर्म करते हैं परन्तु मुझे बहुत से ऐसे लोग मिले हैं जो देखने पर बड़े धर्मात्मा और स्वच्छ वस्त्रधारी थे परन्तु उनके अन्दर काले अणुओं का बाहुल्य था। इसके विपरीत कितने ही ऐसे अपढ़, गंवार तथा बाह्य रूप से भद्दे प्रतीत होने वाले लोग भी देखने को मिले, जिन्हें किसी प्रकार कुलीन नहीं कहा जा सकता। परन्तु उस समय मेरे आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही जब मैंने उनके प्रकाशाणुओं की धर्यरियों को उनकी आभा में स्पष्ट रूप से देखा। आश्चर्य का कारण यह था कि प्रकाशाणुओं का विकास कई वर्ष के सतत परिश्रम और इन्द्रियों के अणुओं के नियंत्रण के पश्चात् हो पाना है, परन्तु इन लोगों ने अनजाने ही प्रकाशाणुओं को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने कभी स्वप्न में भी प्रकाशाणुओं के विकास के विषयों में न सोचा होगा। उपर्युक्त घटनाओं के वर्णन में मैं आपको यह बताना चाहती हूँ कि यह आवश्यक नहीं कि शिक्षित तथा कुलीन प्रतीत होने वाले लोग धर्मात्मा हों और अशिक्षित तथा निर्धन और बाह्य रूप से अस्वच्छ रहने वाले पापी। वास्तव में प्रकाश का सम्बन्ध शरीर से नहीं अपितु आत्मा से है, अतः प्रकाश की प्राप्ति के लिए शरीर की शुद्धि की इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी आत्मा की निर्मलता की। बाह्य शरीर तो आत्मा के निवास के लिए भवन के समान है।”

आयुर्वेद में स्वस्थ वृत्त के जो आवश्यक कृत्य बताए हैं, उन्हें आगमकार श्रमण के लिए अनाचार कहते हैं। यहाँ सहज प्रश्न उठता है कि स्वास्थ्य श्रमण के लिए भी अपेक्षित है फिर आगमकार ने इन्हे अनाचार क्यों माना ? यह ठीक है कि स्वास्थ्य से श्रमण मुक्त नहीं है किन्तु उसका मुख्य लक्ष्य है—आत्म-रक्षा। “अप्याहु खलु सययं रक्खियब्बो, सव्विदिएहि सुसमाहिएहि”—श्रमण सब इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त कर

आत्मा की रक्षा करे। आगमकार के सामने आत्म-रक्षा की दृष्टि मुख्य थी। जबकि आयुर्वेद के सम्मुख देह-रक्षा का प्रश्न प्रमुख था, इसीलिए वहाँ कहा गया है कि—

नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथी सदा ।
स्वशरीरस्य मेधावी, कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥^१

—नगर रक्षक नगर के तथा गाडीवान् गाडी के कार्यों में (उसकी रक्षा के लिए) सदा सावधान रहता है, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्यो को चाहिए कि वे सदा अपने शरीर के कृत्यो में सावधान रहें।

चरक के अनुसार स्वास्थ्य-रक्षा के लिए किए जाने वाले स्वस्थवृत्त के आवश्यक कृत्य ये हैं

मोबीर्गंजन—काला मुरमा आंजना ।

नम्य कर्म—नाक में तेल डालना ।

दन्त पवन—दन्तौन करना ।

जिह्वानिलेखन—शलाका से जीभ के मूल को खुरचकर निकालना ।

अभ्यंग—तेल का मर्दन करना ।

शरीर-परिमार्जन—कपड़े या स्पृञ्ज आदि द्वारा मेल उतारने के लिए रगड़ना अथवा उबटन लगाना, स्नान करना ।

गन्धमाल्य-निषेवण—चन्दन, केसर आदि मुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन करना तथा मुगन्धित पुष्पों की मालाओं को धारण करना ।

रक्षाभरण धारण—रज्ज-जटित आभूषण धारण करना ।

शौचाधान—पैर तथा मलमार्गों (नाक, कान, गुदा, उपस्थ आदि) को प्रतिदिन बार-बार धोना ।

मम्प्रसाधन—केश आदि कटवाना तथा कंघी करना ।

घून्नपान—घून्नपान करना ।

पादत्र-धारण—जूते धारण करना ।

छत्र-धारण—छत्ता धारण करना ।

दण्ड-धारण—दण्ड (छड़ी) धारण करना ।

इनमें से अधिकांश का अनाचार प्रकरण में और कुछेक का अन्यत्र निषेध मिलता है। इसका कारण है—आत्म-रक्षा। इन्द्रियो की समाधि और ब्रह्मचर्य के बिना आत्म-रक्षा हो नहीं पाती। उपर्युक्त कृत्य ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-समाधि में बाधक बनते हैं। स्वयं आयुर्वेद के ग्रन्थ-निर्माताओं की दृष्टि में भी ये वृष्य (वीर्यवर्धक), पुस्त्व-

वर्षक और कामाग्नि-सन्दीपक हैं। स्नान को चरक संहिता में वृष्य कहा है।^१—

पवित्रं वृष्यमायुष्यं, श्रमस्वेदमलापहम् ।

शरीर-बलसधानं, स्नानमोजस्कर परम् ॥

इसकी व्याख्या में मुश्रुन का श्लोक उद्धृत है, उसमें इसे पुंस्त्व-वर्द्धन कहा है—

तन्द्रापापोपशमनं, मुष्टिदं पुंस्त्ववर्द्धनम् ।

रक्तप्रसादनं चापि, स्नानमग्नेश्च दीपनम् ॥

उसी प्रकरण में तन्त्रान्नर का श्लोक भी उद्धृत है। उसमें स्नान को कामाग्नि-सन्दीपन कहा है।

प्रातः स्नानमलं च पापहरणं दुस्त्वप्रविध्वंसनं,

शीतम्यायनं मलापहरणं सर्वयनं तेजसाम् ।

रूपद्योतकरं शरीरमुखदं कामाग्निसन्दीपनं,

स्त्रीणां मन्मथगाहनं श्रमहरं स्नाने दशैते गुणा ॥

चरक संहिता के सूत्र-स्थान में गन्ध-माल्य-निषेवण (५।६३), संप्रसाधन (५।६६) और पादत्र-धारण (५।६७) को भी वृष्य कहा गया है।

इसी तरह और भी शरीर की सार-मंभाल के लिए किए जाने वाले कृत्य ऋष्यचर्य में साधक नहीं बनते, इसलिए भगवान् महावीर ने इन्हे भी अनाचार माना है।

परीषह-सहन की दृष्टि में भगवान् महावीर ने जो आचार-व्यवस्था स्वीकृत की, वह निषिध्य-परम्परा में उनसे पहले भी रही है। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति से पहले की अपनी कठोर-चर्या का जो वर्णन किया है^२, उसकी तुलना प्रसन्न आगम के तीसरे अध्ययन में वर्णित आचार-व्यवस्था में होती है। इसके आधार पर यह माना जाता है कि महात्मा बुद्ध ने भ० पार्श्वनाथ की परम्परा स्वीकार की थी।^३ इससे यह सहज हो जाना जा सकता है कि भावी तीर्थङ्करो की आचार-व्यवस्था में भी परीषह-सहन का स्थान होगा। इसका निरूपण भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन में किया है। भगवान् ने कहा—

“अज्जो ! यह मगघाधिपति श्रेणिक पहले तरक में निकल कर जब महापद्म नामक पहले तीर्थङ्कर होंगे, तब वे मेरे समान ही आचार-धर्म का निरूपण करेंगे।

“अज्जो ! जैसे मैंने छह जीव-निकाय का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी छह जीव-निकाय का निरूपण करेंगे।

१—चरक, सूत्र-स्थान, अध्ययन ५।९२।

२—मज्झिम-निकाय, महासीहनाबसुत्त, पृष्ठ ४८-५२।

३—पार्श्वनाथ का चातुर्थाय धर्म, पृष्ठ २४-२६।

“अज्जो ! जैसे मैंने पाँच महाव्रतों का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी पाँच महाव्रतों का निरूपण करेंगे।

“अज्जो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए नम्रभाव, मृण्ड-भाव, अस्नान—स्नान न करना, अदन्तवण—दंतों आदि न करना, अछत्र—छत्र धारण न करना, अनुपानत्क—जूते न पहनना, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठ-शय्या, केश-लोच, ब्रह्मचर्य-वास, पर-गृह-प्रवेश, आदर या अनादर पूर्वक लब्ध भिक्षा का ग्रहण—इनका निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी इनका निरूपण करेंगे।

“अज्जो ! जैसे मैंने आध्यात्मिक, औद्देशिक, मिश्रजान, अद्वयतर, क्रीत, प्रामित्य, आच्छेद्य, प्रनिमृष्ट, अभिहत काल्पार-भक्त, दुर्भिक्ष-भक्त, म्लान-भक्त, वार्द्धिका-भक्त, प्राधूर्ण-भक्त, मूल-भोजन, कन्द-भोजन, फल-भोजन, बीज-भोजन, हरित-भोजन—इनका प्रतिषेध किया है, वैसे ही महापद्म भी आध्यात्मिक यावन हरित-भोजन का प्रतिषेध करेंगे।

“अज्जो ! जैसे मैंने शय्या-पिण्ड और राज-पिण्ड का प्रतिषेध किया है, वैसे ही महापद्म भी इनका प्रतिषेध करेंगे।”

सूत्रकृतांग में परिज्ञानव्य-प्रत्याख्यानात्मक कर्मों की लम्बी तालिका है। जम्बू के प्रश्न पर मुघर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर के धर्म का मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है। वहाँ बहुत सारे परिज्ञानव्य-कर्म ऐसे हैं, जो दशवैकालिक के इस अध्ययन में नहीं हैं। प्रस्तुत अध्ययन के अनाचारों में जिनकी तुलना होती है, वे ये हैं

(१) वस्तिकर्म, (२) विरेचन, (३) वमन, (४) अंजन, (५) गंध, (६) माल्य, (७) स्नान, (८) दन्त-प्रक्षालन, (९) औद्देशिक, (१०) क्रीत-कृत, (११) आहृत, (१२) कल्क-उद्बर्तन, (१३) सागारिक-पिण्ड, (शय्यातर-पिण्ड), (१४) अष्टापद, (१५) उपानत्, (१६) छत्र, (१७) नालिका, (१८) बाल-बीजन, (१९) पर-अमत्र (गृहि-अमत्र), (२०) आसन्दी-पर्यंक, (२१) गृहान्तर-निषद्या, (२२) मंप्रच्छन्न, (२३) स्मरण—आनुर-स्मरण और (२४) अल्पपानानुप्रदान—गृहि वैयावृत्य।

आचाराङ्ग में भगवान् के साधना-काल का अत्यन्त प्रामाणिक विवरण है। वहाँ बताया गया है कि भगवान् गृहस्थ का वस्त्र नहीं पहनते थे, गृहस्थ के पात्र में खाते भी

नहीं थे^१ और वे संशोधन-विवेचन, वमन, गात्राभ्यंग, स्नान, संवाधन, मर्दन, दन्त-प्रक्षालन (दंतों के द्वारा दन्त-प्रक्षालन) नहीं करते थे।^२

सूत्रकृतांग में दन्त-प्रक्षालन, अजन, वमन, धूप और धूम्र-पान का निषेध मिलता है। वृत्तिकार ने इन्हे उत्तर गुण कहा है।^३ भगवान् महावीर के आचार-धर्म का आधार अहिंसा है और अनाचार का आधार हिंसा है। भगवान् ने हिंसा का सामान्य निषेध किया और हिंसा के उन प्रसंगों का भी निषेध किया, जिनका आसेवन उनके समकालीन अन्य श्रमण और परिव्राजक करते थे।

महात्मा बुद्ध अपने लिए बनाया हुआ भोजन लेते थे, निमन्त्रण भी स्वीकार करते थे। वैदिक-संन्यासियों व सांख्य-परिव्राजकों में कन्द-मूल-भोजन का बहुत प्रचलन था। भगवान् महावीर ने इन सबका निषेध किया। निषेध का हेतु है—हिंसा का परिहार। सांख्य व वैदिक संन्यासियों में शौच का प्राधान्य था। भगवान् ने विनय-आचार को प्रधान माना, इसलिए वे शौच को वह म्यान न दे सके, जो उन्होंने विनय का दिया। स्नान के निषेध की पृष्ठभूमि में अहिंसा का विचार है।^४ अपरिग्रह की दृष्टि से उग्रहीने शरीर-निरपेक्षता पर बल दिया। शरीर परिग्रह है।^५ उसकी साज-सज्जा आसक्ति उत्पन्न करती है, इसलिए उन्होंने उद्बर्तन, अभ्यग आदि का निषेध किया। कुछ निषेधों में ब्रह्मचर्य को सुरक्षा का दृष्टिकोण भी रहा है। शंख-लिखित ने प्रोषित-भर्तृका कुल-स्त्री के लिए कुछ निषेध बनाए हैं। वे इन्हीं के समान हैं। उसके मतानुसार प्रेक्षा (दोला) नाडव, विहार, चित्र-दर्शन, अंगराग-उद्यानयान, विवृतगयन, उत्कृष्ट पान तथा भोजन, कटुक-क्रीडा, धूम्र, गंध, माल्य, अलंकार, दंतधावन, अजन, आदर्शन, प्रसाधन आदि अस्वतंत्र प्रोषित-भर्तृका कुल-स्त्री को नहीं करना चाहिए।^६

१-आचारांग, १।९।१।१९ :

णो सेवइ य परवत्त्वं, परपाए बि से न मुंजित्वा ।

२-बही, १।९।४।२ :

संतोहणं च वमणं च गायत्रमंगणं च सिगाणं च ।

संवाहणं च न मे कप्ये दंतपक्खाल्लं च परिभ्भाय ॥

३-सूत्रकृतांग, २।१।१५, वृत्ति पत्र २९९ :

णो दंतपक्खाल्लेणेणं दंते पक्खाल्लेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूषणे णो तं परिआबिएज्जा—इह पूर्वोक्तमहाव्रतपालनार्थमनेनोत्तरगुणाः प्रतिपाद्यन्ते ।

४-वेत्तो—दशवैकालिक, ६।६०-६२ ।

५-स्थानांग, ३।१।१३८ :

तिविहे परिगहे प० सं० —कम्पपरिगहे सरीरपरिगहे बाहिरमंडमत्तपरिगहे ।

६-हिन्दी साहित्य का गृह्य इतिहास, पृष्ठ १५१ ।

निषेध-हेतुओं का स्थूल विभाग :

क्रीतकृत और सन्निधि का निषेध अपरिग्रह की दृष्टि से है। संबाधन, दंत-प्रधावन, सप्रोच्छन, देह-प्रलोकन, छत्र, चैकित्स्य, उपानत्, उद्वर्तन, वमन, वस्तिकर्म, विरेचन, अंजन, दंतवण, अम्यंग और विभूषा—इनका निषेध देह-निर्ममत्व और ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए भगवान् ने जो प्रवचन किया, उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है। जो भिक्षु ब्रह्मचर्य का आचरण करता है, उसके लिए अम्यंग, अंग-प्रक्षालन, संबाधन, उपलेप, धूपन, शरीर-मण्डन, स्नान, दंत-धावन आदि निषेध बतलाए हैं।^१

जैन-परम्परा में स्नान का निषेध दशवैकालिक (६।६०-६२) के अनुसार अहिंसा की दृष्टि में है और प्रश्नव्याकरण^२ के उक्त संदर्भ के अनुसार ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। अष्टापद (छूत) का निषेध क्रीडा-रहित मनोभाव से सम्बन्धित है। आजीव-वृत्तिता का निषेध एषणा-शुद्धि की दृष्टि से है। आतुर-स्मरण का निषेध इन्द्रिय-विजय, ब्रह्मचर्य आदि कई दृष्टियों से है। शेष सब निषेधों की पृष्ठभूमि अहिंसा है।

अगम्यसिंह म्यविर ने औद्देशिक आदि अनाचरणीयता के कारणों का उल्लेख किया है। उनमें जीव-बध, अधिकरण, विभूषा, उड्डाह-अपवाद, एषणा-धात, ब्रह्मचर्य-बाधा, गर्व, सूत्रार्थ-बाधा, अनिस्संगता, पापानुमोदन आदि मुख्य हैं।^३

१-प्रश्नव्याकरण, चतुर्थ संस्करण, सूत्र २७ :

जो मुहं चरति बंमचेरं, इमं च रतिरागबोसमोहपबड्डणकरं किमम्भपमाय-
बोसपासत्यसीलकरणं अमंनणाणि य तेल्लमज्जाणाणि य अमिक्खणं कक्ख-
सीस-कर - चरण-ववण-धोवण-संवाहण - गायकम्म-परिमह्णानुलेवण-जुन्नवास-
धूवण - सरीरपरिमंङ्गण - बाउसिकहसिय-मणिय-नट्टगीयवाइयनडनट्टकजल्लमल्ल
वेच्छणवेलंबक जाणि य सिंगारागाराणि य अन्ताणि य एवमादियाणि
तवसंजमबंमचेरघातोपघातियाइं अणुचरमाणेणं बंमचेरं वणजेयव्वाइं सब्बकालं,
मावेयव्वो मवइ य अंतरप्पा इमेहिं तव नियमसीलजोमेहिं निज्जकालं, किं ते ?
अप्पानगवदंतधावणसेयमलजल्लधारणंमूणवयकेसलोए य खम-इम-अवेलम-
कुप्पिवास-सापब-सीतोसिण-कट्ठसेज्जा-भूमिसेज्जा परधरपवेस-लड्ढावलड-
माणावमाण निदण-इंसमसग-फास-नियम-तव-गुण-विजयमादिएहिं जहा से
चिरतरकं होइ बंमचेरं। इमं च अमंमचेरधिरमणपरिरक्खणद्वयाए पावयणं
मगवया सुकहियं।

२-बही, चतुर्थ संस्करण।

३-बेसो—दशवैकालिक, (मा०२), पृष्ठ ४३-४६।

विनय का दृष्टिकोण :

विनय तप है और तप धर्म है, इसलिए धार्मिक को विनीत होना चाहिए—विनय करना चाहिए।^१ जिस संघ में आचार्य और दीक्षा-पर्याय में बड़े भ्रमणों के साथ विनम्र व्यवहार नहीं किया जाना, वह प्रवचन की भावना नहीं कर सकता। विनय कषाय-त्याग से उत्पन्न होता है। आचार्य से नीचे आसन पर बैठना, उनके पीछे चलना, चरण-स्पर्श करना और हाथ जोड़कर वन्दन करना (दश० १।२।१७)—यह सारा व्यावहारिक विनय है किन्तु जिसका कषाय प्रबल है, वह ऐसा नहीं कर सकता।

विनय का दूसरा रूप अनुशासन है। भगवान् महावीर ने अनुशासन को माध्य-मिद्धि का बहुत बड़ा साधन माना है। यही कारण था कि उनके जन्मा मुख्यवस्थित संघ उनके किसी भी सम-सामयिक आचार्य का नहीं बना। उन्होंने कहा—“जो मुनि, बच्चे, बूढ़े, गलिक अथवा सम-वयस्क के हितानुशासन को सम्यक् भाव से स्वीकार नहीं करता और भूल को फिर न दोहराने का संकल्प नहीं करता, वह अपने साध्य की आराधना नहीं कर सकता। आचार्य का अनुशासन कौन-सी बड़ी बात है, हित का अनुशासन एक घटदासी दे, वह भी मानना चाहिए। (सूत्रकृतांग १।१।४।७-८)

विनय का तीसरा रूप है अनाशातना—किमी भी रूप में अवज्ञा न करना। इसमें छोटे-बड़े का कोई प्रश्न नहीं है। जो किमी एक मुनि की आशातना करता है, वह सबकी आशातना करता है। वह उस व्यक्ति की आशातना नहीं किन्तु ज्ञान आदि गुणों (जो उसमें, अपने में और सब में है) की आशातना करता है।^२

विनय का चौथा रूप है भक्ति। बड़ों के आने पर खड़ा होना, आसन देना, सामने जाना, पहुँचाने जाना आदि-आदि सेवा-कर्म भक्ति कहलाते हैं।

आन्तरिक भावना के सम्बन्ध को बहुमान कहा जाता है। यह विनय का पाँचवाँ प्रकार है।

वर्ण-संज्वलन का अर्थ है सद्भूत गुणों की प्रशंसा करना। यह विनय का छठा प्रकार है। गुण-सम्बर्धन की दृष्टि में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विनय के ये सभी प्रकार प्रमत्त आगम में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। नवें अध्ययन की रचना इन्हीं के आधार पर हुई है।

१-प्रस्तव्याकरण, संबर्द्धार ३ :

विणओ वि तबो, तबो वि धम्मो तम्हा विणओ पउजियब्बो ।

२-द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, २१।९ :

एकस्याशातनाय्यत्र, सर्वेषामेव तत्त्वतः ।

अन्योन्यमनुविद्धा हि, तेषु ज्ञानावयो गुणाः ॥

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय ३

सहाय्य

१-जीवों का वर्गीकरण

अध्यात्म का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा को जानना, देखना और पाना यही उसका आदि, मध्य और अन्त है। जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।^१ जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है और जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।^२ इस सिद्धान्त की भाषा में यही तथ्य निहित है कि आत्मा को जाने बिना कोई अनात्मा को नहीं जान सकता और अनात्मा को जाने बिना कोई आत्मा को नहीं जान सकता। इन दोनों को जाने बिना कोई आत्मा को नहीं पा सकता। दशवैकालिककार ने इस सत्य का उद्घाटन इन शब्दों में किया है—

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई ।

जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं ? ॥

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणई ।

जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहिइ संजमं ॥४।१२,१३

जैन-साहित्य में जीव-विज्ञान और अजीव-विज्ञान की बहुत विषद चर्चा है। दशवैकालिक का जीव विभाग उतना विषद नहीं है, पर संक्षेप में उसकी रूप-रेखा का बोध कराया गया है।

जैन-दर्शन विषय के समस्त जीवों को छह निकायो में वर्गीकृत करता है^३—

१—पृथ्वीकायिक—खनिज जीव ।

२—अप्कायिक—जल जीव ।

३—तेजस्कायिक—अग्नि जीव ।

४—वायुकायिक—वायु जीव ।

५—वनस्पतिकायिक—हृन्ति जीव ।

६—असकायिक—गतिशील जीव ।

१—आचारंग, १।३।४।१२३ :

जे एणं जानइ, ते सव्वं जानइ, जे सव्वं जानइ से एणं जानइ ।

२—वही, १।१।७।५७ :

जे अण्कर्णं जानइ से बहिया जानइ, जे बहिया जानइ से अण्कर्णं जानइ ।

३—दशवैकालिक, ४। सू० ३-९ ।

इनके अवान्तर प्रकारों का भी संक्षिप्त उल्लेख मिलता है •

१—पृथ्वी—भित्ति, शिला, लेप्टु ।^१

२—अप—ओस, हिम, महिका, करक (ओला), हरतनुक, शुद्ध-उदक ।^२

३—तेजस्—अंगार, मुरमुर, अर्चि, ज्वाला, अलात्, शुद्ध-अग्नि, उल्का ।^३

४—वायु—पंखे की हवा, पत्र की हवा, शाला की हवा, मोरपिच्छी की हवा, वस्त्र की हवा, हाथ की हवा, मुँह की हवा ।^४

५—वनस्पति—अग्रबीज, पर्वबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह, सम्मूर्च्छिम, तृण-लता ।^५

६—त्रस—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपातिक ।^६

प्रथम पाँच निकाय के जीव स्यावर होते हैं । उनका ज्ञान सर्वाधिक निम्न कोटि का होता है । अतः वे इच्छापूर्वक आ-जा नहीं सकते । उन्हें केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान प्राप्त होता है । अतः वे सब एकेन्द्रिय होते हैं । ज्ञान के विकासक्रम की दृष्टि से जीवों का विभाजन इस प्रकार होता है

१—एकेन्द्रिय,

२—द्वीन्द्रिय,

३—त्रीन्द्रिय,

४—चतुरिन्द्रिय* और

५—पञ्चेन्द्रिय—असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय—तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम—मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवनवासी देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, अवेयक और अनुत्तर विमान के देव) ।

द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीव त्रस हैं । जिन प्राणियों में सामने

१—दशवैकालिक, ४। सू० १८ ।

२—वही, ४।सू० १९ ।

३—वही, ४।सू० २० ।

४—वही, ४।सू० २१ ।

५—वही, ४।सू० ८ ।

६—वही, ४।सू० ९ ।

७—इनमें उत्तरोत्तर ज्ञान विकसित होता है । देखो दशवैकालिक (भा० २),

पृष्ठ १३४, पाद-टिप्पण ४ ।

जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फेलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भय-भीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एव गति के विज्ञाता हैं, वे त्रस कहलाते हैं । (४। सू०६)

आठवें अध्ययन (श्लोक १३-१६) में आठ सूक्ष्म बतलाए गए हैं • (१) स्नेह-सूक्ष्म—ओस आदि, (२) पुष्प-सूक्ष्म—बरगद आदि के फूल, (३) प्राण-सूक्ष्म—कुन्बु आदि सूक्ष्म जन्तु, (४) उत्तिग सूक्ष्म—कीडीनगरा, (५) पनक-सूक्ष्म—पंच वर्ण वाली काई, (६) बीज-सूक्ष्म—सरसों आदि के मुँह पर होने वाली कणिका, (७) हरित-सूक्ष्म—तत्काल उत्पन्न अंकुर और (८) अण्ड-सूक्ष्म—मधुमक्खी, कीडी, मकड़ी, ब्राह्मणी और गिरगिट के अण्ड । *

त्रस जीव हमारे प्रत्यक्ष है । वनस्पति को भी जीव मानने में उतनी कठिनाई नहीं है जितनी शेष चार निकायो को मानने में है । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में जीव नहीं किन्तु ये स्वयं जीव हैं—यह धातुवादी बौद्धों और भूतवादी नैयायिकों को ही अमान्य नहीं किन्तु वर्तमान विज्ञान को भी अमान्य है । जैन-दर्शन के अनुसार सारा द्रव्य-जगत् या तो मजीब है या जीव का परित्यक्त शरीर । इस विश्व में जितना कठोर द्रव्य है वह सब मजीब है । विरोधी शस्त्र से उपहत होने पर वह निर्जीव हो जाता है । इसका तात्पर्य है कि प्रारम्भ में सारी पृथ्वी सजीव होती है, फिर जल आदि विरोधी द्रव्यों के योग में वह निर्जीव हो जाती है । इस प्रकार पृथ्वी की दो अवस्थाएँ बनती हैं शस्त्र से अनुपहत - सजीव और शस्त्र से उपहत—निर्जीव ।

इसी प्रकार जितना द्रव, जितना उष्ण, जितना स्वतः तिर्यग् गतिशील और जितना चय-अपचयशील द्रव्य होता है, वह सब प्रारम्भ में सजीव ही होता है । इन छहों निकायो का विवरण इस प्रकार है •

जीवनिकाय	लक्षण	शस्त्र से अनुपहत	शस्त्र से उपहत
(१) पृथ्वी	कठोरता	मजीब	निर्जीव
(२) अप्	द्रवता	"	"
(३) तेजस्	उष्णता	"	"
(४) वायु	स्वतः तिर्यग् गतिशीलता	"	"
(५) वनस्पति	चय-अपचयधर्मता	"	"
(६) त्रस	चय-अपचयधर्मता	"	"

इस प्रकार षट् जीवनिकाय का संक्षिप्त वर्णन इस आगम में मिलता है ।

(४। सू० ४-६)

१-वेत्तो—वसुवैकालिक (भाग-२), पृष्ठ ४२०-२१, श्लोक १५ के दिव्यण ।

२-संक्षिप्त व्याख्या

१. अहिंसा

अहिंसा और समता :

भगवान् महावीर समता-धर्म के महान् प्रवर्तक थे। उन्होंने कहा—‘मेरी वाणी में आस्था रखने वाला भिक्षु छहों निकायों को अपनी आत्मा के समान माने।’^१ इस आत्म-साम्य की भूमिका से उन्होंने अपने भिक्षुओं को अनेक निर्देश दिए। आत्मोपम्य की कमोटी पर उन्हें कसा जाता है तो वे शत-प्रतिशत खरे उतरते हैं। निरे बुद्धिवादी दृष्टिकोण से देखने पर वे कुछ स्वाभाविक लगते हैं, कुछ अस्वाभाविक भी। किन्तु सम्यग् दृष्टिकोण होने पर वे अस्वाभाविक नहीं लगते। भगवान् के निर्देशों का सार इस प्रकार है

पृथ्वी-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि मजीव पृथ्वी को न कुरेदे और न उसका भेदन करे।^२ मजीव मिट्टी, क्षार, हृण्ताल, हिंगुल, मैतशिल आदि से लिप्त हाथ व कढछी में भिक्षा न ले।^३ शूद्र-पृथ्वी और मिट्टी के रजकणों में भरे हुए आमन पर न बैठे।^४ गात्र की उष्मा से पृथ्वी के जीवों की विराधना होती है, इसलिए शूद्र-पृथ्वी (शम्भ्र से अनुपहृत पृथ्वी) पर नहीं बैठना चाहिए। उसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—शूद्र-पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिए अर्थात् निर्जीव पृथ्वी पर भी कंबल आदि बिछाए बिना नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि शूद्र-पृथ्वी पर बैठने से उसके निम्न भाग में रहे हुए जीवों की विराधना होती है।^५ खाने-पीने के अयोग्य वस्तु को निर्जीव पृथ्वी पर डाले।^६ मल,

१-इशवकालिक, १०।५।

२-वही, ४।सू० १८ ; ८।४।

मिलाइए—अट्टाङ्गहृवय, सूत्र-स्थान, २।३६ :

नाकस्माद् बिलिखेद् भुबम्।

३-वही, ५।१।३३-३५।

४-वही, ८।५।

५-वही, (भाग २), पृष्ठ ४१६, श्लोक ५ के टिप्पण।

६-वही, ५।१।८०-८१।

मूत्र, श्लेष्मादि का उत्सर्ग भी अक्षित पृथ्वी पर करे ।^१ पृथ्वी का स्नान न करे ।^२ पृथ्वी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे ।^३

अपकाय (जल) :

आयुर्वेद साहित्य में जल के दो विभाग वर्णित हैं—(१) आन्तरिक्ष और (२) भूमि ।^४

आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का होता है :

- (१) धार— धार बन्ध बरसा हुआ जल ।
- (२) कार— ओले का जल ।
- (३) तौषार— तुषार-जल ।
- (४) हैम— हिम-जल ।

भूमि जल सात प्रकार का होता है :

- (१) कौप— कुएँ का जल ।
- (२) नादेय— नदी का जल ।
- (३) सारम— सरोवर का जल ।
- (४) ताडाग— तालाब का जल ।
- (५) प्राश्रवण— भरने का जल ।
- (६) औद्भिद्— पृथ्वी फोड़ कर निकला हुआ जल ।
- (७) चौण्ड्य— बिना बन्धे हुए कुएँ का जल ।

दशवैकालिक के कर्त्ता ने जल के मुख्य दो विभाग किए हैं—(१) उदक—भूमि-जल और (२) शुद्धोदक—अन्तरिक्ष-जल । ओस, हिम, महिका, (तुषार), करक (ओले)—ये अन्तरिक्ष-जल के प्रकार हैं । हस्तनुक औद्भिद् जल—यह भूमि-जल का प्रकार है । कुएँ आदि का पानी भी उदक शब्द के द्वारा संगृहीत है । इस प्रकार जल का विभाग वैसा ही है, जैसा आयुर्वेद-जगत् में सम्मन है ।

१—वराहकालिक, ८।१८ ।

२—वही, १०।२ ।

३—वही, ६।२६, २९ ।

४—सुश्रुत, सूत्र-स्थान, ४५।७ ।

अप-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि सजीव जल का स्पर्श न करे। सजीव जल से भीगे हुए वस्त्र या शरीर का न स्पर्श करे, न निचोड़े, न भटके, न मुखाए और न तपाए।^१ जल की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।^२ शीतोदक का सेवन न करे। तप्तानिर्वृत—तप्त होने पर जो निर्जीव हो गया हो, वैसा जल ले।^३

तप्त और अनिर्वृत—इन दो शब्दों का समास मिश्र (सचित्त-अचित्त) वस्तु का अर्थ जताने के लिए हुआ है। जितनी दृश्य वस्तुएँ हैं वे पहले सचित्त होती हैं। उनमें से जब जीव च्युत हो जाते हैं, केवल शरीर रह जाते हैं, तब वे वस्तुएँ अचित्त बन जाती हैं। जीवों का च्यवन काल-मर्यादा के अनुसार स्वयं होता है और विरोधी पदार्थ के संयोग से काल-मर्यादा से पहले भी हो सकती है। जीवों की मृत्यु के कारण-भूत विरोधी पदार्थ शस्त्र कहलाते हैं। मिट्टी, जल, वनस्पति और त्रस जीवों का शस्त्र अग्नि है। जल और वनस्पति सचित्त होते हैं। अग्नि में उबालने पर ये अचित्त ही हैं। किन्तु ये पूर्ण-मात्रा में उबाले हुए न हो उस स्थिति में मिश्र बन जाते हैं—कुछ जीव मरते हैं, कुछ नहीं मरते, इसलिए वे मचित्त-अचित्त बन जाते हैं। इस प्रकार के पदार्थ को तप्तानिर्वृत कहा जाता है।^४

गर्म होने के बाद ठंडा हुआ पानी कुछ समय में फिर मचित्त हो जाता है, उसे भी तप्तानिर्वृत कहा गया है।

अगस्त्यसिंह म्थविर के अनुसार ग्रीष्म-काल में एक दिन-रात के बाद गर्म पानी फिर सचित्त हो जाता है तथा हेमन्त और वर्षा-ऋतु के पूर्वार्द्ध में गर्म किया हुआ जल अपराद्ध में सचित्त हो जाता है।^५ त्रिनदाम महत्तर का भी यही अभिमत रहा

१-दशवैकालिक, ४।सू०२०; ८।७।

२-वही, ६।२९, ३०, ३१।

३-वही, ८।६।

४-अगस्त्य चूर्णि :

जाव णातीवअगणिपरिणतं तं तप्तअपरिणिब्बुडं।

५-वही :

अहुवा तत्तं बाणितं पुणे सीतलीयुतं आज्ञायपरिणामं जातिं तं अपरिणयं
अणिब्बुडं गिम्हे अहोरत्तेणं सच्चित्ती णवति, हेमन्ते-वासासु, पुब्बग्हे कत्तं
अवरग्हे।

है ।^१ टीकाकार ने इसके बारे में कोई चर्चा नहीं की है । ओषधिनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में अचित्त वस्तु के फिर से सचित्त होने का वर्णन मिलता है । जल की योनि अचित्त भी होती है ।^२

सूत्रकृतांग (२।३।५६) के अनुसार जल के जीव दो प्रकार के होते हैं—वात-योनिक और उदक-योनिक । उदक-योनिक जल के जीव उदक में ही पैदा होते हैं । वे सचित्त उदक में ही पैदा हो, अचित्त में नहीं हो, ऐसे विभाग का आधार नहीं मिलता क्योंकि वह अचित्त-योनिक भी है । इसलिए यह सूक्ष्म-दृष्टि से विमर्शनीय है । प्राणी-विज्ञान की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्व का है ।

तेजस्-जगत् और अहिंसक निर्देश :

तेजस् काय के जीवों के भेद इस प्रकार है •

अग्नि— स्पर्श-ग्राह्य अग्नि ।

अंगार— ज्वाला रहित कोयला आदि ।

मूर्मुह— कंडे, करसी, तुष, चोकर, भूसी आदि की आग ।

अचि— अग्नि में विच्छिन्न ज्वाला ।

अलान— अधजली लकड़ी ।

शद्ध-अग्नि—इन्धन रहित अग्नि ।

उन्का - गगनाग्नि ।

मुनि इनको प्रदीप्त न करे, इनका घर्षण न करे, इनको प्रज्वलित न करे, इनको न बुझाये ।^३ प्रकाश और तापने के लिए अग्नि न जलाए ।^४ अग्नि की किसी प्रकार से हिंसा न करे ।^५

१-जिनबास बूषि, पृष्ठ ११४

तत्तं पाणीयं तं पुषो सीतलीमूतमनिच्छुड मज्जइ, तं च न गिण्हे, रस्ति पण्णु-
सियं सचिस्सी मवइ, हेमंतबासासु पुण्ण्हे कय अवरण्हे सचिस्सी मवति, एवं
सचित्तं ओ मुंजइ सो तत्तानिच्छुडमोई मवइ ।

२-स्थानांग, ३।१।१४० :

तिचिह्वा ओणी पण्णत्ता तंजहा—सचिस्सा अचित्ता भीसिघा । एवं
एगिंघियाणं विगलिंघियाणं संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोभियाणं
संमुच्छिमममुस्ताण य ।

३-इशकालिक, ४।सू०२०; ८।८ ।

४-यही, ६।३४ ।

५-यही, ६।३२-३५ ।

वायु-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि चामर आदि से अपने पर या दूसरों पर हवा न करे । मुँह से फूँक न दे ।^१
वायुकाय की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे ।^२

वनस्पति :

आयुर्वेद के ग्रन्थों में वनस्पति का एक विशेष अर्थ है । सुश्रुत संहिता में स्यावर औषधि के चार प्रकार बतलाए गए हैं—(१) वनस्पति, (२) वृक्ष, (३) वीरुध और (४) औषधि । इनमें से जिनके पुष्प न हों किन्तु फल आते हो उन्हें वनस्पति ; जिनके पुष्प और फल दोनों आते हो उन्हें वृक्ष, जो फलने वाली या गुल्म के स्वरूप की हो उन्हें वीरुध तथा जो फलों के पकने तक ही जीवित या विद्यमान रहती हो उन्हें औषधि कहते हैं ।^३

आगम-साहित्य में वनस्पति शब्द वृक्ष, गुच्छ, गुल्म आदि सभी प्रकार की हरियाली का वाचक है ।^४

सातवें अध्ययन में वनस्पति के क्रमिक विकास का निरूपण मिलता है । उसका उत्पादन सात अवस्थाओं में पूरा होता है । वे ये हैं^५ :

- १—रूढ ।
- २—बहु संभूत ।
- ३—स्थिर ।
- ४—उत्प्लुत ।
- ५—गर्भित ।
- ६—प्रसूत ।
- ७—ससार ।

१—दशवैकालिक, ४।सू० २१; ८।६ ।

२—बह्वी, ६।३६-३९ ।

३—सुश्रुत, सूत्र-स्थान, १।३७ ।

तासां स्यावरारुक्षतुर्बिधाः—वनस्पतयो, वृक्षा, वीरुध, औषधय इति । तासु अनुष्याः फलवन्तो वनस्पतयः । पुष्पफलवन्तो वृक्षाः । प्रतानवन्तः स्तम्भिन्यवन् वीरुधः । फलपाकनिष्ठा औषधयः इति ।

४—दशवैकालिक, ४।सू० ८ ।

५—वेदो—दशवैकालिक (भा० २), पृष्ठ ३९१-९२, श्लोक ३५ का हिष्यव ।

वनस्पति की दशा अवस्थाएँ होती हैं—(१) मूल, (२) कन्द, (३) स्कन्ध, (४) त्वचा, (५) शाखा, (६) प्रवाल, (७) पत्र, (८) पुष्प, (९) फल और (१०) बीज ।

शिष्य ने पूछा—“गुरुदेव ! बीज में जो जीव था, उसके व्युत्क्रान्त होने पर क्या दूसरा जीव वहाँ उत्पन्न होता है या वही जीव ?”

आचार्य ने कहा—“बीज दो प्रकार के है— योनिभूत और अयोनिभूत । योनिभूत बीज वह होता है जिसकी योनि नष्ट न हुई हो । जिस प्रकार ५५ वर्ष की स्त्री अयोनिभूत होती है—वह गर्भ को धारण नहीं कर सकती, उसी प्रकार ये बीज भी कालान्तर में अबीज हो जाते हैं । जो अयोनिभूत है वह नियमन निर्जीव होता है । योनिभूत सजीव और निर्जीव—दोनों प्रकार का होता है । उस योनिभूत बीज में व्युत्क्रान्त होने वाला जीव भी उत्पन्न हो सकता है और दूसरा जीव भी । फिर बार-बार वहाँ दूसरे जीव भी उत्पन्न हो सकते हैं । कहा है—उत्पद्यमान सभी किसलय अनन्तजीवी होते हैं । बढ़ता हुआ वही वनस्पति अनन्तजीवी या परिणजीवी भी हो सकता है । बीज शरीरी जीव जहाँ-जहाँ अपनी काया को बढ़ाता है वहाँ-वहाँ पत्र, फूल, स्कन्ध, शाखा आदि को भी उत्पन्न करता है ।”^१

वर्षा से उष्णयोनि वनस्पति म्लान हो जाती है ।^२

विभिन्न प्रकरणों में जलज व स्थलज वनस्पति के अनेक नाम मिलते हैं

जलज	स्थलज
१—हृद (२।६) आदि-आदि ।	१—मूला ।
	२—आर्द्रक ।
	३—इक्षु ।
	४—कन्द-मूल (३।७) आदि-आदि ।

वनस्पति-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि वनस्पति पर न चले, न खड़ा रहे, न बैठे और न सोए ।^३ वनस्पति को

१—जिनवास चूर्णि, पृष्ठ १३८-१३९ ।

२—वही, पृष्ठ २६२ :

उष्णजोषिओ वा वनस्पद वा कुहेज्या ।

३—वसवैकालिक, ४।सू० २२; ५।१।३, २६; ८।११ ।

कुचल कर भिक्षा दे उसके हाथ से वह न ले ।^१ वनस्पति-मिश्रित भोजन न ले ।^२ कच्ची वनस्पति न ले ।^३ खाने का भाग कम और डालने का अधिक हो, वैसी वनस्पति न ले ।^४ वृक्षों को देख कर ये गृह, कृषि आदि के उपकरण-निर्माण के उपयोगी हैं—इस प्रकार न कहे ।^५ वृक्षों को पुष्पित और फलित देख कर वैसा वचन न कहे, जिससे उनका उपघात हो ।^६

वृक्ष, फल व मूल का छेदन न करे ।^७ पुष्प आदि सूक्ष्म वनस्पति का वध न हो, वैसी सावधानी बरते ।^८ वनस्पति की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे ।^९

त्रस-जगत् और अहिंसक निर्देश :

कीट, पतंग आदि त्रस-जीव अपने शरीर या धर्मोपकरण पर चढ़ जाएँ तो उन्हें सावधानी पूर्वक वहाँ से हटा कर एकान्त में रख दे, उनका संघात न करे ।^{१०} कुत्ते, नई व्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व, हाथी आदि के समागम से दूर रहे ।^{११} मार्ग में जहाँ नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित्त एकत्रित हो, उनके सम्मुख न जाएँ । उन्हें त्रास न दे ।^{१२} मनुष्य पशु-पक्षी, साँप आदि को देख कर वह स्थूल है, बहुत चर्बी वाला है, वध्य है, बाह्य है अथवा पकाने योग्य है, ऐसा न कहे ।^{१३} गायें दूहने योग्य हैं, बैल दमन करने योग्य है, हल में जोतने योग्य है, भार होने योग्य हैं और ग्ध-योग्य

१-दशवैकालिक, ५।१।२९ ; ५।२।१४-१७ ।

२-वही, ५।१।५७ ।

३-वही, ५।१।७० ; ५।२।१८-२४ ; ८।१० ।

४-वही, ५।१।७३, ७४ ।

५-वही, ७।२६-२९ ।

६-वही, ७।३०-३५ ।

७-वही, ८।१० ; १०।३ ।

८-वही, ८।१४-१६ ।

९-वही, ६।४०-४२ ।

१०-वही, ४।सू० २३ ।

११-वही, ५।१।१२ ।

१२-वही, ५।२।७ ।

१३-वही, ७।२२ ।

हैं—ऐसा न कहे ।^१ मेघ, बालक, कुत्ते और बछड़े को उत्सर्ज कर प्रवेश न करे ।^२ जस काय की किसी भी प्रकार से हिसा न करे ।^३

२. सत्य

मुनि न स्वयं असत्य बोले, न दूसरो को असत्य बोलने की प्रेरणा दे और न असत्य का अनुमोदन करे ।^४ क्रोध से या भय से, अपने लिए या दूसरो के लिए झूठ न बोले । अप्रिय-मत्य भी न बोले ।^५ मत्य में रत रहे ।^६

३. अचौय

मुनि गाँव में, नगर में या अरण्य में, थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव—कोई भी वस्तु बिना दी हुई न ले, स्वामी की आज्ञा के बिना न ले । न दूसरों को इस प्रकार अदत्त लेने की प्रेरणा दे और न अदत्त ग्रहण का अनुमोदन करे ।^७ तपस्या, वय, ऋष और आचार-भाव की चोरी न करे ।^८

४. ब्रह्मचर्य

मुनि देव, मनुष्य या त्रियंभ सम्बन्धी मंथुन का सेवन न स्वयं करे, न दूसरो को मंथुन-सेवन के लिए प्रेरित करे और न मंथुन-सेवन का अनुमोदन करे ।^९ ब्रह्मचर्य धोर है, प्रमाद है, उसका सेवन न करे ।^{१०} केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे ।^{११} स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति या आभूषणों से सुसज्जित स्त्री को टुकटकी लगा कर न

१—दशबैकालिक, ७।२४।

२—बही, ५।१।२२।

३—बही, ६।४३-४५।

४—बही, ४।सू०१२।

५—बही, ६।११।

६—बही, ९।३।३।

७—बही, ४।सू०१३; ६।१३, १४।

८—बही, ५।२।४६।

९—बही, ४।सू०१४।

१०—बही, ६।१५।

११—बही, ८।५२।

देखे ।^१ विकलांग या वृद्ध स्त्री से भी दूर रहे ।^२ विभूषा न करे । प्रणोत रस का भोजन न करे । स्त्री का संसर्ग न करे ।^३ स्त्रियो के अंग, प्रत्यंग, संस्थान, मधुर बोली और कटाक्ष को न देखे ।^४ झट्टावारी मनोः विषयो मे राग-भाव न करे ।^५ आसक्त दृष्टि मे न देखे । घर मे जा अतिदूर तक न देखे ।^६ स्नान-घर और शौच-गृह को न देखे ।^७

८. अपरिग्रह

मुनि गाँव, नगर या अरण्य मे अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव—कोई भी वस्तु पर ममत्व न रखे, न दूसरो को ममत्व रखने की प्रेरणा दे और न ममत्व का अनुमोदन करे ।^८ खाद्य-पदार्थों का संग्रह न करे । ये मेरे कल काम आयेंगे—ऐसा सोच संचय न करे ।^९ मुनि वस्त्र, पात्र तो क्या शरीर पर भी ममत्व न रखे ।^{१०} उपधि में आसक्त न बने ।^{११} ऋद्धि, सत्कार और पूजा की भावना का त्याग करे । जीवन की अभिलाषा न करे ।^{१२} मुनि भोजन के लिए कही प्रतिबद्ध न हो ।^{१३}

१-दशर्वकालिक, ८।५३, ५४ ।

२-वही, ८।५५ ।

३-वही, ८।५६ ।

४-वही, ८।५७ ।

५-वही, ८।५८ ।

६-वही, ५।१।२३ ।

७-वही, ५।१।२५ ।

८-वही, ४।सू०१५ ।

९-वही, ६।१७ ; १०।८ ।

१०-वही, ६।२१ ।

११-वही, १०।१६ ।

१२-वही, १०।१७ ।

१३-वही, १।५ ।

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय ४

चर्या-पथ

१-चर्या और विहार

मुनि आतापना ले—परिश्रमी बने, मुकुमारता को छोड़े—कष्ट-सहिष्णु बने। वह—

स्नान न करे ।^१

गन्ध न सूँघे । गन्ध-द्रव्य का विलेपन न करे ।^२

माला न पहने ।^३

पंखा न झले ।

गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे ।^४

राज-पिण्ड न ले ।^५

दानशाला में न ले ।^६

अंग-मर्दन न करे ।^७

दौल न पखावे । दलौल न करे ।^८

शरीर का प्रमार्जन न करे ।^९

दर्पण आदि में शरीर न देखे ।^{१०}

शतरंज न खेले । जूआ न खेले ।^{११}

छत्र धारण न करे ।^{१२}

जूते न पहने ।^{१३}

उबटन न करे ।^{१४}

रूप-बल, कान्ति बढ़ाने के लिए धूम्र-पान न करे, वमन न करे, वस्तिकर्म न करे ।

विरंचन न ले ।^{१५}

आँखों में अंजन न आँजे ।^{१६}

तैल-मर्दन न करे ।^{१७}

शरीर को अलंकृत न करे ।^{१८}

१, २, ३, ४—वशात्कालिक, ३।२; ६।६०-६३ ।

५, ६, ७, ८, ९, १०—वही, ३।३ ।

११, १२, १३—वही, ३।४ ।

१४—वही, ३।५ ।

१५, १६, १७, १८—वही, ३।९ ।

मुनि ग्रीष्म में सूर्य की आतापना ले, हेमन्त में खुले बदन रहे और वर्षा-ऋतु में एक स्थान में रहे।^१ भिक्षा न मिलने पर शोक न करे, सहज तप मान भूख को सहन करे।^२ वन्दना न करने पर कुपित न हो और वन्दना करने पर गर्वित न हो।^३ मुनि तपस्या करे, प्रणीत रस का वर्जन करे और मद्य-प्रमाद से दूर रहे।^४ मुनि सभी उपकरणों का तथा उच्चार-भूमि, संस्तारक आदि का यथासमय प्रमाणोपेत प्रतिलेखन करे।^५ मुनि अनेक बातें मुक्तता है, अनेक चीजें देखता है, किन्तु सभी मुना या देखा हुआ दूसरों के समक्ष न कहे।^६ गृहस्थ से संसर्ग—परिचय न करे।^७ किसी एक कुल या ग्राम के निश्चित न रहे, किन्तु जनपद के निश्चित रहे।^८ कर्कश और दारुण स्पर्श को सहे।^९ भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, रति, अरति आदि को समभाव से सहे।^{१०} किसी का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिखाए। ज्ञान, जाति और तपस्या का मदन न करे।^{११} अपनी भूल स्वीकार करे। दूसरी बार उसे न दोहराए।^{१२} अपराध को न छुपाए, न उमका अपलाप करे।^{१३} मदा मग्न रहे।^{१४} निद्रा को बहुमान न दे। अट्टहास न करे, काम-कथा न करे।^{१५} मुनि दूसरों के लिए बने हुए, मल-मूत्र की भूमि में युक्त, स्त्री और पशु से रहित गृह, शयन और आसन का सेवन करे।^{१६} निम श्रद्धा में प्रव्रज्या ले, उमी श्रद्धा

१-वही, ३।१२।

२-वही, ५।२।६।

३-वही, ५।२।३०।

४-वही, ५।२।४०।

५-वही, ८।१७।

६-वही, ८।२०।

७-वही, ८।२१, ५२।

८-वही, ८।२४।

९-वही, ८।२६।

१०-वही, ८।२७।

११-वही, ८।३०।

१२-वही, ८।३१।

१३-वही, ८।३२।

१४-वही, ८।३२।

१५-वही, ८।६२।

१६-वही, ८।५१।

से पालन करे ।^१ छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-साधु—किसी का तिरस्कार न करे ।^२ तीर्थंकर के वचन में स्थिर रहे । अघन—अकिंचन बना रहे ।^३ गृहपति की आज्ञा लिए बिना चिक आदि को हटा कर अन्तर प्रवेश न करे ।^४ बहुधृत के पास बैठे, अर्थ का निदधय करे । बहुधृत का उपहास न करे ।^५ भोजन कर स्वाध्याय में लीन हो जाए ।^६ कभी भयभीत न हो ।^७ सुख-दुःख में सम रहे । भोग-प्राप्ति का संकल्प न करे ।^८ कुसुहल न करे ।^९ ऋद्धि, सत्कार और पूजा को त्यागे ।^{१०} स्थितात्मा बने ।^{११} रूप और लाभ का मद न करे ।^{१२}

१-वही, ८।६० ।

२-वही, ९।३।१२ ।

३-वही, १०।६ ।

४-वही, ५।१।१८ ।

५-वही, ८।४३, ४९ ।

६-वही, १०।९ ।

७-वही, १०।१२ ।

८-वही, १०।११ ।

९-वही, १०।१३ ।

१०-वही, १०।१७ ।

११-वही, १०।१७ ।

१२-वही १०।१९ ।

२-वेग-निरोध

मल-मूत्र के वेग को न रोके । मल-मूत्र की बाधा होने पर प्रासुक स्थान देख कर, गृहस्वामी की आज्ञा ले, उससे निवृत्त हो जाए ।^१

अगस्त्यसिंह मयविर मल-मूत्र आदि आवेगों को रोकने से होने वाले रोगों का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—मूत्र का वेग रोकने में चक्षु की ज्योति नष्ट हो जाती है । मल का वेग रोकने में जीवनी-शक्ति का नाश होता है । ऊर्ध्व वायु रोकने से कुष्ठ-रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है ।^२

वेग-निरोध के सम्बन्ध में आयुर्वेद का अभिमत यह है—मनुष्य वात (ऊर्ध्व वात एवं अधोवात) मल, मूत्र, छीक, प्यास, भूख, निद्रा, कास, श्रम-जनित श्वास, जम्भाई, अधु, वमन और शूल—इन तेरह वस्तुओं के उपस्थित (बहिर्गमनोन्मुख) वेगों को न रोके ।^३ मल के वेग को रोकने में पिण्डालियो में ऐंठन, प्रतिश्याय, सिरदर्द, वायु का ऊपर को जाना, पडिकसिका, हृदय का अवरोध, मुख में मल का आना और पूर्वोक्त वात-रोध जन्य गुल्म, उदावर्त आदि रोग होते हैं । मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने में—अङ्गों का टूटना, पथरी, वस्ति, मेहन (शिशन) बंधन में वेदना होती है । वात और मलरोध जन्य रोग भी प्रायः होते हैं, अर्थात् कभी नहीं भी होते हैं ।^४

१-बशवैकालिक, ५।१।१९ ।

२-अगस्त्य चूर्ण

मुक्तनिरोहे चक्षुं, वच्चनिरोहे य जीवियं वयति ।

उबद्धं निरोहे कोष्ठं, मुक्तनिरोहे भवइ अयुमं ॥

३-अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, ४।१ :

वेगान्नधारयेद्वातविमूत्रमवतृक्षुधाम् ।

निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाऽभुच्छिबितेसाम् ॥

४-बह्वी, ४। ३-४ ।

३-ईर्यापथ

कैसे चले ?

मुनि संयम पूर्वक चले—सावधान होकर चले।^१ धीमे चले, उद्वेग-रहित होकर चले, चित्त की आकुलता को मिटा कर चले।^२ युग-मात्र भूमि को देख कर चले।^३ आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी युग-मात्र भूमि को देख कर चलने का विधान मिलता है—‘विचरेद् युगमात्रहक्’।^४ विषम मार्ग में न जाए।^५ कोयले, राख, तुष और गोबर की राशि को सजीव रजकणों से भरे हुए पंगे में लाँघ कर न चले।^६ अष्टांगहृदय में भी राख आदि के ढेर को लाँघ कर जाने का निषेध किया गया है। उसका उद्देश्य भले भिन्न हो पर नियम-निर्माण भिन्न नहीं है। वह इस प्रकार है—चैत्य (ग्राम का पूज्य वृक्ष), पूज्य (पूजा के योग्य गरु, पिता आदि), ध्वजा, अश्वत्थ (चाण्डाल आदि)—इनकी छाया को न लाँघे। भस्म (राख का ढेर), तुष (घान्य की भूसी), अशुचि (मल, मूत्र, जूठन आदि), शर्करा (कंकड़), मिट्टी के ढेले, बलि-भूमि (जहाँ बलि दी गई हो), स्नान-भूमि (जहाँ स्नान किया हो)—इनको भी नहीं लाँघे।^७ वर्षा, धूल और महावायु में न चले। उड़ने वाले जीव अधिक हो तब न चले।^८ कुत्ते, नव-प्रसूता गाय, उन्मत्त बैल, घोड़े-हाथी, बच्चों की क्रीडा-मण्डली, कलह और युद्ध में बच कर चले।^९ अष्टांगहृदय में लिखा है—हिमक पशु, दृष्टी - माँप आदि और मींग वाले—मेघ आदि से बचे।^{१०} ऊँचा मुख कर न चले,

१-इश्वरकालिक, ४।८ ।

२-वही, ५।१।२ ।

३-वही, ५।१।३ ।

४-अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।३२ ।

५-इश्वरकालिक, ५।१।४, ६ ।

६-वही, ५।१।७ ।

७-अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।३३।३४ ।

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मपुष्याशुचीन् ॥

नाक्रामेष्कर्करालोष्टबलिस्नान मुषो न च ॥

८-इश्वरकालिक, ५।१।८, ९ ।

९-वही, ५।१।१२ ।

१०-अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।४१ ।

भुक्त कर न चले, बहुत हृष्ट या बहुत आकुल होकर न चले, इन्द्रियो को अपने स्थान में नियोजित करके चले ।^१ दौडता, बोलता और हँसना हुआ न चले ।^२ गवाक्ष आदि शंकनीय स्थानों को देखना हुआ न चले ।^३ भेड़, बण्हे, कुत्ते और बछड़ों को लांघ कर प्रवेश न करे ।^४ हिलते हुए काठ, गिला या ईंट के टुकड़ों पर से न चले ।^५ नाना प्रकार के प्राणी भोजन के लिए एकत्रित हो, उनके सम्मुख न जाए । उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक चले ।^६

कैसे बैठे ?

मुनि संयम पूर्वक बैठे—मावधानी से बैठे ।^७ आसन्दी, पर्यंक, मंच, आमालक (अवष्टम्भ सहित आसन), वस्त्र में गूथे हुए आमन और पीठ पर न बैठे ।^८ भिन्ना करते समय गृहस्थ के घर में न बैठे ।^९ शुद्ध पृथ्वी—शस्त्र में अन्तर्हित पृथ्वी पर या पृथ्वी पर कुछ विछाग बिना न बैठे । अचित्त पृथ्वी पर प्रमाज्जन कर, आज्ञा लेकर बैठे ।^{१०} आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को देख कर बैठे ।^{११} आचार्य के बराबर, आगे और पीछे न बैठे । गुरु के ऊरु में अपना ऊरु मटा कर न बैठे ।^{१२} गुरु के पाम हाथ, पैर और शरीर को गम कर बैठे ।^{१३}

कैसे खड़ा रहे ?

मुनि संयमपूर्वक खड़ा रहे ।^{१४} पानी तथा मिट्टी लाने के मार्ग और बीज तथा

१-दशवंकालिक, ५।१।१३ ।

२-वही, ५।१।१४ ।

३-वही, ५।१।१५ ।

४-वही, ५।१।२० ।

५-वही, ५।१।६५ ।

६-वही, ५।२।७ ।

७-वही, ४।८ ।

८-वही, ३।५; ६।५३, ५४ ।

९-वही, ३।५; ६।५७ ।

१०-वही, ८।५ ।

११-वही, ८।१३ ।

१२-वही, ८।४५ ।

१३-वही, ८।४४ ।

१४-वही, ४।८ ।

हरियाली का वर्जन कर खड़ा रहे ।^१ आगल, परिष, द्वार या किवाड का सहारा लेकर खड़ा न रहे ।^२ किसी घर के आगे बनीपक आदि याचक खड़े हों तो मुनि उनको या गृहस्वामी को दीखे, वैसे खड़ा न रहे, एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए ।^३ वन-निकुंज के बीच, बीज, हरित, अनन्त कायिक वनस्पति, सर्पच्छत्र, काई आदि पर खड़ा न रहे ।^४ आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को देख कर खड़ा रहे ।^५ गृहस्थ के घर में मुनि भरोसा, सन्धि आदि स्थानों को देखता हुआ खड़ा न रहे, उचित स्थान में खड़ा रहे ।^६

१—बराबैकालिक, ५।१।२६ ।

२—वही, ५।२।९ ।

३—वही, ५।२।११ ।

४—वही, ८।११ ।

५—वही, ८।१३ ।

६—वही, ५।१।१५ ।

४-वाक्-शुद्धि

कैसे बोले ?

मुनि चार भाषाएँ न बोले - (१) अवक्तव्य-सत्य भाषा, (२) सत्य-असत्य भाषा, (३) असत्य भाषा, और (४) अनाचीर्ण व्यवहार भाषा ।^१ अपापकारी, अकर्कश, असंदिग्ध सत्य और व्यवहार भाषा बोले ।^२ अपने आशय को संदिग्ध बनाने वाला सत्य भी न बोले ।^३ शंक्ति भाषा न बोले ।^४ कानों को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।^५ किसी को होल, गोल, आदि अवज्ञा-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे ।^६ किसी स्त्री को दादी, नानी, माँ, मौसी, भानजी आदि स्नेह-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे । किन्तु उनकी अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा गण-दोष का विचार कर उनके मूल नाम या गोत्र से सम्बोधित करे ।^७ किसी पुरुष को दादा, नाना, चाचा, मामा, पोता आदि स्नेह-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे । किन्तु उन्हे नाम या गोत्र से सम्बोधित करे ।^८ पंचेन्द्रिय जीवों के बारे में स्त्री-पुरुष का सन्देह हो तो उनके लिए जाति-शब्द का प्रयोग करे ।^९ मनुष्य, पशु आदि म्यूल, प्रमेदुर, वध्य, पाक्य है—ऐसा न बोले । किन्तु वे परिवृद्ध, उपचित, संजात और महाकाय है—ऐसा कहे ।^{१०} वृक्ष आदि को देख कर यह भकान की लकड़ी के लिए या पात्र के लिए या कृषि के उपकरणों के लिए, अहरन आदि के लिए या क्षयनासन के लिए उपयोगी

१-इसायैकालिक, ७।२ ।

२-वही, ७।३ ।

३-वही, ७।४, ११ ।

४-वही, ७।६, ९ ।

५-वही, ७।१२ ।

६-वही, ७।१४ ।

७-वही, ७।१५-१७ ।

८-वही, ७।१८-२० ।

९-वही, ७।२१ ।

१०-वही, ७।२२, २३ ।

है, ऐसा न कहे ।^१ फल या धान्य पके हैं या कच्चे, नोडने योग्य हैं या नहीं, फली नीली हैं या सूखी आदि सावद्य भाषा का प्रयोग न करे ।^२ मृत-भोज, पितर-भोज या जीमनवार करणीय है, चोर वध्य है, नदी के घाट सुन्दर है—ऐसा न कहे ।^३ जीमनवार को जीमनवार है, चोर को घनार्थी है और नदी के घाट समान है—ऐसा कहे ।^४

भोजन सम्बन्धी प्रशमा-वाचक शब्दों का प्रयोग न करे ।^५ वस्तुओं के त्रय-विक्रय की चर्चा न करे ।^६ असंयमी को उठ, बैठ, सो आदि आदेश वचन न कहे ।^७ असाधु को साधु न कहे, साधु को साधु कहे ।^८ अमुक की जय हो, अमुक की नहीं—ऐसा न कहे ।^९ अपनी या दूसरों की भौतिक सुख-पुबिधा के लिए, प्रतिकूल स्थिति के न होने और अनुकूल स्थिति के होने की बात न कहे ।^{१०} मेघ, आकाश और मनुष्य को देव न कहे ।^{११} उन्हें देव कहने में मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है, इसलिए उन्हें देव नहीं कहना चाहिए ।^{१२}

वैदिक साहित्य में आकाश, मेघ और राजा को देव माना गया है, किन्तु यह वस्तु-स्थिति में दूर है । जनता में मिथ्या धारणा न फैले, इसलिए यह निषेध किया गया है ।

पाप का अनमोदन करने वाली, अवधारिणी, परोपधातिनी, हास्य पैदा करने वाली आदि भाषा न बोले ।^{१३} अद्रुष्ट भाषा बोलें ।^{१४} हिन और आनुलोमिक वचन बोलें ।^{१५}

१-वशावैकालिक, ७।२७-२९ ।

२-वही, ७।३१-३५ ।

३-वही, ७।३६ ।

४-वही, ७।३७ ।

५-वही, ७।४१ ।

६-वही, ७।४३, ४५, ४६ ।

७-वही, ७।४७ ।

८-वही, ७।४८ ।

९-वही, ७।५० ।

१०-वही, ७।५१ ।

११-वही, ७।५२, ५३ ।

१२-अमल्य चूर्णि :

निष्कलतचिरीकरणाद्यो दोषा इति ।

१३-वशावैकालिक, ७।५४ ।

१४-वही, ७।५५ ।

१५-वही, ७।५६ ।

प्रयोजनवश बोले, परिमित बोले ।^१ बिना पूछे न बोले, बीच में न बोले । चुगली न खाए और कपट-पूर्ण असत्य न बोले ।^२ जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और जिससे दूसरा कुपित हो, ऐसा न बोले ।^३ देखी हुई बात कहे, जोर से न बोले, स्वर-व्यंजन आदि युक्त बोले, स्पष्ट बोले, भय रहित बोले ।^४ पीठ पीछे अवर्णवाद तथा प्रत्यक्ष में वर बहाने वाले वचन न बोले ।^५ कलह उत्पन्न करने वाली कथा न कहे ।^६

भगवान् महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से सावध और निरवध भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है । प्रिय, हित, मित, मनोहर वचन बोलना चाहिए—यह स्थूल बात है । इसकी पुष्टि नीति के द्वारा भी होती है । किन्तु अहिंसा की दृष्टि नीति में बहुत आगे जाती है । श्रुत्येद में भाषा के परिष्कार को अभ्युदय का हेतु बतलाया है

मकुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सखाय सभ्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीनिहिताधि वाचि ॥^७

—जैसे चलनी में सतू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धि के बल में भाषा को परिष्कृत करते हैं । उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं । विद्वानों के वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है ।

महात्मा बुद्ध ने चार अंगों में युक्त वचन को निरवध वचन कहा है ।

ऐसा मैंने सुना एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डक के उतवताराम में विहार करते थे । उस समय भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा—“भिक्षुओ ! चार अंगों में युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, विज्ञो के अनुसार वह, निरवध है, दोषरहित है । कौन से चार अंग ? भिक्षुओ ! यहाँ भिक्षु अच्छा वचन ही बोलता है न कि बुरा, धार्मिक वचन ही बोलता है न कि अधार्मिक, प्रिय वचन ही बोलता है न कि अप्रिय, सत्य वचन ही बोलता है न कि असत्य । भिक्षुओ ! इन चार अंगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, वह विज्ञो के अनुसार निरवध तथा दोषरहित है ।”

ऐसा बता कर बुद्ध ने फिर कहा

१—दशवैकालिक, ८।१९ ।

२—वही, ८।४६ ।

३—वही, ८।४७ ।

४—वही, ८।४८ ।

५—वही, ९।३।९ ।

६—वही, १०।१० ।

७—श्रुत्येद, १०।७।१ ।

“सन्तो ने अच्छे वचन को ही उत्तम बताया है । धार्मिक वचन को ही बोले, न कि अधार्मिक वचन—यह दूसरा है । प्रिय वचन को ही बोले, न कि अप्रिय वचन को—यह तीसरा । सत्य वचन को ही बोले न कि असत्य वचन को—यह है चौथा ।”

तब आयुष्मान् बंशीस ने आसन से उठकर, एक कंधे पर चीवर सम्भाल कर भगवान् का हाथ जोड़ अभिवादन कर उन्हें कहा—“भन्ते ! मुझे कुछ सुसता है ।” भगवान् ने कहा—“बंशीस ! उसे सुनाओ ।” तब आयुष्मान् के सम्मुख अनुक्ल गाथाओ में यह स्तुति की

“वह बात बोले जिसमें न स्वयं कष्ट पाए और न दूसरे को ही दुःख हो, ऐसी बात सुन्दर है ।”

“आनन्ददायी प्रिय वचन ही बोले । पापी बातों को छोड़ कर दूसरों को प्रिय वचन ही बोले ।”

“सत्य ही अमृत वचन है, यह सदा का धर्म है । सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित मंतो ने (ऐसा) कहा है ।”

“बुद्ध जो कल्याण-वचन निर्वाण-प्राप्ति के लिए, दुःख का अन्त करने के लिए बोलते हैं, वही वचनों में उत्तम हैं ।”

५-एषणा

भिक्षा की एषणा क्यों और कैसे ?

मुनि माधुकरी वृत्ति से दान—भक्त की एषणा करे ।^१ यह भोजन किसलिए किया है, किसने किया है—यह पूछ कर ग्रहण करे ।^२ यदि पर्याप्त भोजन उपलब्ध न हो या प्राप्त हुए भोजन से भूख न मिटे तो और भोजन की गवेषणा करे ।^३ मुनि समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए ।^४ भिक्षा के लिए मुनि पुरुषकार करे ।^५ उच्छ्र की एषणा करे ।^६ भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे लौट आए ।^७ भिक्षा के लिए घर में प्रविष्ट मुनि गृहपति के द्वारा श्रतनुज्ञात या वजित भूमि (अति-भूमि) में न जाए । जहाँ तक जाने में गृहस्थ को अप्रीति न हो, जहाँ तक अन्य भिक्षाचर जाते हों उस (कुल-भूमि) में खड़ा रहे ।^८ भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि कहीं न बैठे, खड़ा रह कर भी कथा का प्रबन्ध न करे ।^९ भक्त-पान के लिए घर में जाते हुए ध्रमण, ब्राह्मण, कृपण या बनीपक को लौघ कर गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश न करे ।^{१०} इनके चले जाने पर घर में प्रवेश करे ।^{११} राजा, गृहपति और आरक्षिकों के मंत्रणा-स्थान के पास न जाए ।^{१२} निषिद्ध, मामक और अप्रीतिकर कुल में

१-दशबैकालिक, १।२, ३ ।

२-वही, ५।१।५६ ।

३-वही, ५।२।२, ३ ।

४-वही, ५।२।४, ६ ।

५-वही, ५।२।६ ।

६-वही, ८।२३ ।

७-वही, ५।१।२३ ।

८-वही, ५।१।२४ ।

९-वही, ५।२।८ ।

१०-वही, ५।२।१०, १२ ।

११-वही, ५।२।१३ ।

१२-वही, ५।१।१६ ।

भोजन लेने न जाए ।^१ तत्काल में लीपे हुए आँगन में भोजन लेने न जाए ।^२ गृहपति की आज्ञा लिए बिना शापी और प्रावार से आच्छादित द्वार को खोल भोजन लेने अन्दर न जाए ।^३ नीचे द्वार वाले अन्धकारपूर्ण कोठे में तथा जहाँ पुष्प, बीज आदि बिल्लरे हो, वहाँ भोजन लेने न जाए ।^४ भिक्षा, शयन, आसन आदि न देने पर गृहस्थ पर कुपित न हो ।^५ दूसरों की प्रशंसा करता हुआ याचना न करे ।^६ वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो या मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हो तो भिक्षा लेने न जाए ।^७ वेष्ट्या-पाडें में भिक्षा लेने भी न जाए ।^८ सामूदानिक भिक्षा करे—नीचे कुलों को छोड़ ऊँचे कुल में न जाए ।^९

भिक्षा कैसे ले ?

मुनि यथाकृत आहार ले ।^{१०} अपने लिए बनाया हुआ, अपने निमित्त खरीदा हुआ, निमज्जन पूर्वक दिया हुआ, सम्मुख लाया हुआ भोजन न ले ।^{११} शय्यातर का भोजन न ले ।^{१२} जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म को जता कर भिक्षा न ले ।^{१३} भोजन आदि को गिराने हुए भिक्षा दे तो न ले ।^{१४} प्राणि, बीज और हरियाली कुचलते हुए दे तो न ले ।^{१५} सचिन का संघट्टन कर दे तो न ले ।^{१६} पुराकर्म-कृत, पश्चात्कर्म-कृत और असंमृष्ट भोजन न

१-ब्रह्मैकालिक, ५।१।१७ ।

२-बही, ५।१।२१ ।

३-बही, ५।१।१८ ।

४-बही, ५।१।२०, २१ ।

५-बही, ५।२।२७, २८ ।

६-बही, ५।२।२९ ।

७-बही, ५।१।८ ।

८-बही, ५।१।९ ।

९-बही, ५।२।२५ ।

१०-बही, १।४ ।

११-बही, ३।२ ।

१२-बही, ३।५ ।

१३-बही, ३।६ ।

१४-बही, ५।१।२८ ।

१५-बही, ५।१।२९ ।

१६-बही, ५।१।३०-३१ ।

ले ।^१ गर्भवती स्त्री के लिए विशेष रूप से बनाया हुआ भोजन, जो वह खा रही हो न ले । खाने ने बाद बचा हो वह ले ।^२ पूरे मास वाली गर्भिणी के हाथ से भोजन न ले ।^३ बालक या बालिका को स्नानपान करानी हुई स्त्री बालक को रोता हुआ छोड़, भिक्षा दे, वह न ले ।^४ विभिन्न द्रव्यों से ढके, लिपे और मूदे हुए पात्र का मुख खोल भिक्षा दे, वह न ले ।^५ दान के निमित्त, पुण्य के निमित्त, वर्तपक के निमित्त और श्रमण के निमित्त बनाया भोजन न ले ।^६ पूर्तीकर्म—आधाकर्म आदि में मिश्र भोजन, अण्यवतर—अपने साथ-साथ साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन, प्रामित्य—साधु को देने के लिए उधार लिया हुआ भोजन और मिश्र-भोजन न ले ।^७ मालापहत भिक्षा न ले ।^८ पुष्प, बीज और हरियाली में उन्मिश्र, पानी उन्मिश्र और पत्रक पर रखा हुआ और अग्नि पर रखा हुआ भोजन न ले ।^९ चूल्हे में दन्धन डाल कर, निकाल कर, चूल्हे को मुलगा कर या बुझा कर भिक्षा दे तो न ले । अग्नि पर रगे हुए पात्र में भोजन निकाल कर, छीटा देकर, चूल्हे पर पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर भोजन दे तो न ले ।^{१०} दूकान में रम्बी हुई चीजे, जो सञ्चित रजो से स्पृष्ट हो, न ले ।^{११} जिसमें खाने का भाग षोढा हो और डालना अधिक पड़—वैसा पदार्थ न ले ।^{१२} फूल आदि सञ्चित द्रव्यों को कुचल कर भिक्षा दे तो न ले ।^{१३} अपक्व हस्ति आदि न ले ।^{१४} एक बार भूजी हुई फली

१-दशवैकालिक, ५।१।३२-३५ ।

२-वही, ५।१।३८ ।

३-वही, ५।१।४१, ४२ ।

४-वही, ५।२।४१, ४३ ।

५-वही, ५।१।४५, ४६ ।

६-वही, ५।१।४७-५४ ।

७-वही, ५।१।५५ ।

८-वही, ५।१।६७-६८ ।

९-वही, ५।१।५७-६२ ।

१०-वही, ५।१।६३, ६४ ।

११-वही, ५।१।७१, ७२ ।

१२-वही, ५।१।७४ ।

१३-वही, ५।२।१४, १७ ।

१४-वही, ५।२।१८, १९-२४ ।

न ले ।^१ जिस वस्तु के दाँवामी या भोक्ता हों, उनमें से एक निर्मज्जित करे तो मुनि वह आहार न ले ।^२ दोनों निर्मज्जित करें तो ले ।^३ गूड के छटे का घोवन, आटे का घोवन, जो तत्काल का घोवन (अधुनाधोत) हो न ले ।^४ जिसका स्वाद, गंध और रस न बदला हो, विरोधी शस्त्र द्वारा जिसके जीव घ्वस्त न हुए हो तथा परम्परा के अनुसार जिस घोवन को अन्तर्मुहूर्त-काल न हुआ हो, वह अधुनाधोत कहलाता है।^५ बहुत खट्टा पानी न ले । पानी को चखकर ले ।^६ आगम-रचना-काल में माधुओ को यवोदक, गुषोदक, मोवीर, आगनाल आदि अम्ल जल ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते थे । उनमें कांजी की भौंति अम्लता होती थी । अधिक समय होने पर वे जल अधिक अम्ल हो जाते थे । दुर्गन्ध भी पैदा हो जाती थी । बंसे जलो में प्याम भी नहीं बुझती थी । इसलिए, उन्हें चख कर लेने का विधान किया गया ।

कैसे खाए ?

सामान्य विधि के अनुसार मुनि गोचराग्र से वापस आ उपाश्रय में भोजन करे । किन्तु जो मुनि दूसरे गाँव में भिक्षा लाने जाए और वह बालक, बूढ़ा, बुभुक्षित, तपम्बी हो या प्याम में पीड़ित हो तो उपाश्रय में आने से पहले ही भोजन कर सकता है । यह आपवादिक विधि है । इसका स्वरूप यह है—जिस गाँव में वह भिक्षा के लिए जाए वहाँ साधु ठहरे हुए हो तो उनके पास आहार करे । यदि साधु न हो तो कोष्ठक अथवा भित्ति-मूल, जो ऊपर से छाया हुआ हो और चारों ओर से संवृत हो, वहाँ जाए और आज्ञा लेकर भोजन के लिए बैठे । आहार करने से पूर्व 'हस्तक' (मुखपोतिका, मुख-वस्त्रिका) से सम्मूचे शरीर का प्रमात्रन कर भोजन प्रारम्भ करे । भोजन करते समय यदि भोजन में गुठली, कांटा, आदि निकले तो तन्हें उठाकर न फेंके, मुँह से न थूके, किन्तु हाथ से एकाल्प में रख दे ।^७

उपाश्रय में भोजन करने की विधि यह है कि मुनि भिक्षा लेकर उपाश्रय में आ

१—वसवैकालिक, ५।२।२० ।

२—वही, ५।१।३७ ।

३—वही, ५।१।३८ ।

४—वही, ५।१।७५ ।

५—वही (सा० २), पृष्ठ २७२, टिप्पण १९३ ।

६—वही, ५।१।७८ ।

७—वही, ५।१।८२-८६ ।

सर्व प्रथम स्थान का प्रतिलेखन करे। तदनन्तर लाई हुई भिक्षा का विशोधन करे। उसमे जीब-जन्तु या कंटक आदि हों तो उन्हें निकाल कर अलग रख दे।

उपाश्रय मे विनयपूर्वक प्रवेश कर गृह के समीप आ 'ईर्यापचिकी' सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग करे। आलोचना करने से पूर्व आचार्य की आज्ञा ले। आज्ञा प्राप्त कर आने-जाने मे, भक्त-पान लेने मे लगे सभी अतिचारो को यथाक्रम याद कर, जो कुछ जैसे बीता हो, वह सब आचार्य को कहे और ऋजु बन आलोचना करे। यदि आलोचना करने मे क्रम-भंग हुआ हो तो उसका फिर प्रतिक्रमण करे। फिर शरीर को स्थिर बना—निरबध-वृत्ति और शरीर-धारण के प्रयोजन का चिन्तन करे। इस प्रचिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मंत्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (लोगस्स) पढ़े, और क्षण भर के लिए विश्राम करे और जघन्यन तीन गाथाओ का स्वाध्याय करे। जो मुनि आन—प्राणलब्धि से सम्पन्न होते है, वे इस विश्राम काल मे सम्पूर्ण चौदह-पूर्वी का परावर्तन कर लेते हैं। इस विश्राम मे अनेक लाभ होते हैं। भिक्षाचरी मे उधर-उधर घूमने तथा ऊँचे-नीचे जाने मे विशेष श्रम होता है। उसमे शरीर की समस्त धातुएँ क्षुब्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति मे भोजन करने पर अनेक रोग उत्पन्न हो सकते है और कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है। विश्राम करने मे इन सब दोषो से बचा जा सकता है। विश्राम करता हुआ वह यह मोचे—“यदि आचार्य और माधु मुझ पर अनुग्रह करें, मेरा भोजन गहण करें तो मैं धन्य हो जाऊँ।” फिर प्रेमपूर्वक माधर्मिक मुनियो को भोजन के लिए निर्मन्त्रित करे। उनके निर्मन्त्रण को स्वीकार कर जो मुनि भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे। यदि कोई निर्मन्त्रण स्वीकार न करे तो अकेला ही भोजन करे।^१

मुनि खुले पात्र में भोजन करे। भोजन करते समय नीचे न डाले।^२ अरस या बिरस, आर्द्र या शृष्क, व्यंजन-सहित या व्यंजन-रहित जो भी आहार भिक्षा में उपलब्ध हो, उसे मुनि मधु-घृत की भाँति खाए। उसकी निन्दा न करे।^३

पात्र को पोंछकर सब कुछ खा ले, जठन न छोड़े।^४ दूसरे संविभाग न ले लें—इसलिए भिक्षा को न छपाए।^५ एकान्त में अच्छा-अच्छा भोजन कर अपना उत्कर्ष दिखाने के लिए मण्डली में बिरस आहार न करे।^६

१-दशवैकालिक, ५।१।८७-९६।

२-बही, ५।१।९६।

३-बही, ५।१।९७-९८।

४-बही, ५।२।१।

५-बही, ५।२।३१।

६-बही, ५।२।३३-३४।

मुनि एक बार भोजन करे ।^१ अप्रासुक भोजन न करे ।^२ भोजन में गृद्ध न बने ।^३ मुनि मात्रज्ञ—भोजन की मात्रा को जानने वाला हो । इसका तात्पर्य है कि वह प्रकाम-भोजी न हो । औपपातिक सूत्र में मुर्गी के अण्डे जितने बत्तीस कबल के आहार को प्रमाण प्राप्त भोजन कहा गया है । जो इस मात्रा से एक कबल भी कम खाता है, वह प्रकाम-रस-भोजी नहीं होता ।^४ भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में आयुर्वेद का अभिमत यह है—उदर के चार भाग (कल्पना) करे—इसमें से दो भाग अन्न से और एक भाग द्रव-पदार्थ से भरे । वात आदि के आश्रय के लिए चतुर्थ भाग को छोड़ देवे (पूरा पेट भर कर के भोजन न करे, भोजन की गति के लिए स्थान रहने देना चाहिए) ।^५

१—इरावेकालिक, ६।२२ ।

२—बही, ८।२३ ।

३—बही, ८।२३ ।

४—सू० १९ ।

५—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, ८।४६-४७ :

अन्नेन कुलोद्भिन्तौ पानेनैकं प्रपूरयेत् ।

आश्रयं क्वनादीनां चतुर्थमवशेषम् ॥

६-इन्द्रिय और मनोनिग्रह

दशवैकालिक में इन्द्रिय और मन को जीतने के लिए निम्न उपाय प्राप्त होते हैं

१. जिसके प्रति राग उत्पन्न हुआ हो उसके प्रति यह चिन्तन करे—वह मेरी नहीं है, मैं भी उसका नहीं हूँ—इस भेद-चिन्ता से राग दूर होता है ।^१
२. राग निवारण के लिए मुनि आतापना ले (सूर्य का ताप सहें), मुकुमारता को छोड़ें, इच्छाओं का अतिक्रमण करे, द्वेष और राग में बचे ।^२
३. मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, पाँच इन्द्रियों का निग्रह करे ।^३
४. जो पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष को जान लेता है, वह भोग में विरक्त हो जाता है इसलिए उन्हे जाने ।^४
५. रूप में मन न करे ।^५
६. कर्णप्रिय शब्दों में आसक्त न बने ।^६
७. कछुए की भोंति इन्द्रियों का गोपन करे ।^७
८. मनोज विषयों में प्रेम न करे ।^८
९. स्वाध्याय और ध्यान में रत रहे ।^९
१०. भग्नकार का विमर्जन करे ।^{१०}
११. इन्द्रियों को जीते ।^{११}
१२. चित्त को समाधान दे ।^{१२}
१३. मन का संवरण करे ।^{१३}
१४. इन्द्रियों को समाधान दे ।^{१४}

१-दशवैकालिक, २।४ ।

२-वही, २।५ ।

३-वही, ३।११ ।

४-वही, ४।१६ ।

५-वही, ८।१९ ।

६-वही, ८।२६ ।

७-वही, ८।४० ।

८-दशवैकालिक, ८।५८ ।

९-वही, ८।६२ ।

१०-वही, ८।६३ ।

११-वही, ९।३।१३ ।

१२-वही, १०।१ ।

१३-वही, १०।७ ।

१४-वही, शूलिका २।१६ ।

७-स्थिरीकरण

जन-दीक्षा अखण्ड और अविभक्त होती है। उसमें काल का भी व्यवधान नहीं होता। वह आजीवन ग्रहण की जाती है। जीवन के इस दीर्घ-काल में साधना-भाव के आरोह-अवरोह को अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। अवरोह अनादेय अवश्य है, पर मानवीय दुर्बलताओं के कारण वह प्रगट होता है और साधना की तीव्रता में वह मिट जाता है। जब साधना में पलायन करने के भाव उत्पन्न होते हैं तब साधक को किन-किन अवलम्बनों के द्वारा अपनी साधना में स्वीर्यापादन करना चाहिए, उन्हीं का निर्देश यहाँ किया गया है। वे अवलम्ब १८ हैं। साधक को इस प्रकार मोचना चाहिए कि^१

१. इस कालिका में आजीविका चलाना अत्यन्त कष्ट-प्रद है।
२. गृहस्थों के काम-भोग तुच्छ और क्षणभंगुर है।
३. सामाजिक मनष्य माया-प्रधान है।
४. मेरा यह दुःख चिरम्यायी नहीं होगा।
५. गृहस्थों को नीच व्यक्तियों का भी सत्कार-सम्मान करना पड़ता है।
६. संयम को छोड़ने का अर्थ है व्रत को पीना।
७. संयम को छोड़ गृहस्थ बनने का अर्थ है नाशकीय जीवन की स्वीकृति।
८. गार्हस्थिक भिक्षुओं में धर्म का स्पर्श दुर्लभ है।
- ९-१०. संकल्प और आर्तक वच के लिए होता है।
११. गृहवास क्लेश-सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश-रहित।
१२. गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मुक्ति।
१३. गृहवास सावध है और मुनि-पर्याय निरवध।
१४. गृहस्थों के कामयोग सर्व-सुलभ है।
१५. मुख या दुःख अपना-अपना होता है।
१६. मनुष्य जीवन चंचल है और अनित्य है।
१७. मैंने इससे पूर्व भी अनेक पाप किए हैं।
१८. कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

८-किसलिए ?

१. महर्षि—मुनि सब दुःखों को क्षीण करने के लिए प्रयत्न करे ।^१
२. मुनि पाँच महाव्रतों को आत्महित के लिए स्वीकार करते हैं ।^२
३. मुनि विनय का प्रयोग आचार-प्राप्ति के लिए करते हैं ।^३
४. मुनि केवल जीवन-यापन के लिए भिक्षा लेते हैं ।^४
५. मुनि वस्त्र-पात्र आदि का ग्रहण और उपयोग जीवन के निर्वाह के लिए तथा लज्जा निवारण के लिए करते हैं ।^५
६. मुनि वचन-प्रहार आदि को अपना धर्म—कर्मव्य समझ कर महन करते हैं ।^६
७. मुनि ज्ञान-प्राप्ति के लिए अध्ययन करते हैं, एकाग्र-चिन्तन होने के लिए अभ्यसन करते हैं, आत्मा को (धर्म में) स्थापित करने के लिए अध्ययन करते हैं और दूसरों को (धर्म में) स्थापित करने के लिए अध्ययन करते हैं ।^७
८. मुनि भौतिक सुख-सुविधा के लिए तप नहीं करते, परलोक कीस मृद्धि के लिए तप नहीं करते श्लाघा-प्रशंसा के लिए तप नहीं करते, केवल आत्म-शुद्धि के लिए तप करते हैं ।^८
९. मुनि इहलोक की भौतिक समृद्धि के लिए आचार का पालन नहीं करते ।
मुनि परलोक की समृद्धि के लिए आचार का पालन नहीं करते ।
मुनि श्लाघा-प्रशंसा के लिए आचार का पालन नहीं करते ।
मुनि केवल आत्म-शुद्धि के लिए आचार का पालन करते हैं ।^९

१-वैश्वकालिक ३।१३ ।

२-बही, ४।सू० १७ ।

३-बही, ९।३।२ ।

४-बही, ९।३।४ ।

५-बही, ६।१९ ।

६-बही, ९।३।६ ।

७-बही, ९।४सू० ५ ।

८-बही, ९।४सू० ६ ।

९-बही, ९।४सू० ७ ।

१०. मुनि अनुत्तर गुणो तथा अनन्त हित के सम्पादन के लिए गुरु की आराधना करते हैं ।^१
११. सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, इसलिए मुनि प्राण-वध का वर्जन करते हैं ।^२
१२. मृषावाद सज्जन व्यक्तियों द्वारा गर्हित है और यह अविश्वास को उत्पन्न करता है, इसलिए मुनि मृषावाद का वर्जन करते हैं ।^३
१३. अत्राध्यक्ष्य अधर्म का मूल है, महान् दोषों की खान है, इसलिए मुनि उसका वर्जन करते हैं ।^४
१४. रात्रि में एवणा का निर्वाह नहीं हो सकता, ईर्या-समिति का शोषन नहीं हो सकता, इसलिए मुनि रात में भोजन नहीं करते ।^५

१—वसवेकालिक, ९।१।१६; ९।२।१६ ।

२—वही, ६।१० ।

३—वही, ६।१२ ।

४—वही, ६।१६ ।

५—वही, ६।२३-२५ ।

६-विनय

दशवैकालिक के अध्ययन ६ के प्रथम उद्देशक में शिष्य का आचार्य के प्रति कैसे वर्तन हो इसका निरूपण है । द्वितीय उद्देशक में विनय और अविनय का भेद दिखलाया गया है । चतुर्थ उद्देशक में विनय-समाधि का उल्लेख किया गया है । अन्यत्र भी विनय का उपदेश है । सब का सार इस प्रकार है --

बड़ो का विनय करे ।^१ गुरु को मन्द, अल्प-व्यस्क या अल्पश्रुत जान कर उनकी आशानना न करे ।^२ सदा गुरु का कृपाकाशी बना रहे ।^३ जिसमें धर्म-पद सीखें उसका विनय करे मरकार करे, हाथ जोड़े ।^४ जो गुरु विशेष-स्थलों की अनुशासना दे, उसकी पूजा करे ।^५ गुरु की आराधना करे, उन्हें मन्तुष्ट रखे ।^६ मोक्षार्थी भक्ति गुरु के बचनों का अनिक्रमण न करे ।^७ गुरु से नीचा बंटे, नीचे खड़ा रहे नीचे आसन विद्याएँ, नीचे भक्त कर प्रणाम करे ।^८ गुरु के उपकरणों या शरीर का स्पर्श न करे । ऐसा हो जाने पर तत्काल क्षमा-याचना करे और पुनः ऐसा न करने का संकल्प करे । गुरु के अभिराग और दुःखित को समझ कर बर्तने ।^९ गुरु के समीप रहे । गुरु के अनुशासन को श्रद्धापूर्वक सुने । अनुशासन को श्रद्धा में स्वीकार करे । गुरु के आदेशानुसार बर्तने । अभिमान न करे ।^{१०}

१-दशवैकालिक, ८।४० ।

२-वही, ९।१।२ ।

३-वही, ९।१।१० ।

४-वही, ९।१।१२ ।

५-वही, ९।१।१३ ।

६-वही, ९।१।१६ ।

७-वही, ९।२।१६ ।

८-वही, ९।२।१७ ।

९-वही, ९।२।१८ ।

१०-वही, ९।२।२० ।

११-वही, ९।४।०४ ।

१०—पूज्य कौन ?

पूज्य कौन ? यह प्रश्न महाभारत-कालीन है। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा था—
 “के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन् मानवा भरतर्षभ ।” (महा० अनु० ३१।१)

उत्तर में गणवान् ब्राह्मण को पूज्य बताया गया है। उत्तर जाति की महत्ता का सूचक है।

दशवैकालिक में पूज्य के गूण और लक्षणों का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। इसके अनन्तर गणवान् मनुष्य ही पूज्य है। पूज्य कौन ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है—

पूज्य वह होता है :

जो आचार्य का श्रद्धा करता है, उनकी आराधना करता है।

जो आचार्य के वचनानुसार आचरण करता है।

जो गम की प्राप्ति नहीं करता।

जो छोटे या बड़े—सबके प्रति विनम्र रहता है।

जो केवल जीवन-निर्वाह के लिए उच्छ्रिष्ट भिक्षा लेता है।

जो अल्प-इच्छा वाला होता है, आवश्यकता में अधिक नहीं लेता।

जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति को अपना धर्म मान कर सहता है।

जो पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा से दूर रहता है।

जो रम-लोलुप नहीं होता, जो माया और कुतूहल नहीं करता।

जो न दीन बनता है और न उत्कर्ष दिखाता है।

जो आत्मवित् है—आत्मा को आत्मा से समझता है।

जो राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि से दूर रहता है।

जो दूसरों के विकास में सतत प्रयत्नशील रहता है।

जो मुक्त होने के लिए साधना-रत रहता है।^१

११-भिक्षु कौन ?

भिक्षु कौन ? यह प्रश्न वैदिक, बौद्ध और जैन —तीनों संस्कृतियों में अपनी-अपनी परम्परा और दृष्टिकोण से वर्णित है। दशवैकालिक में इसका उत्तर देते हुए कहा है—

भिक्षु वह होता है :

जो व्रत किए हुए भोगों को पुनः नहीं पीता—स्वीकार नहीं करता ।

जो स्यावर या त्रस—किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता ।

जो सभी प्राणियों को आत्म-तुल्य समझता है ।

जो अकिंचन, जितेन्द्रिय और आत्म-जीन होता है ।

जो अर्हत्-वचन में विश्वास करता है ।

जो सम्यग्-दृष्टि होता है ।

जो अमूढ़ होता है ।

जो खान-पान का सग्रह नहीं करता ।

जो सविभागी होता है ।

जो सदा शान्त और प्रसन्न रहता है ।

जो दूसरों का तिरस्कार नहीं करता ।

जो सुख-दुःख में सम रहता है ।

जो शरीर का परिकर्म नहीं करता ।

जो सहिष्णु, अनिदान और अमय होता है ।

जो अध्यात्म में रत और समाधि-युक्त होता है ।

जो किसी भी वस्तु में ममत्व नहीं करता ।

जो समस्त आसक्तियों से रहित होता है ।

जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा का अर्धी नहीं होता ।

जो जाति, रूप, श्रुत और ऐश्वर्य का मद नहीं करता ।

जो ध्यान और स्वाध्याय में लीन होता है ।^१

१२—मुनि के विशेषण

दशवैकालिक में मुनि के लिए अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वे सब मुनि के मानसिक, वाचिक और कायिक संयम के निर्देशक हैं। कुछ एक विशेषणों से तात्कालिक स्थितियों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

दसवें अध्ययन में 'निर्जातरूपरजत'—यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

चत्तारि वने सया कसाए, धुबबोपी य हूबेज्ज दुइवमणे।

अहणे निज्जायकम्बरसए, मिह्जिजेणं परिचज्जए जे स निवसू ॥ (१०।६)

इसका अर्थ है कि मुनि सोना-चाँदी का संघय न करे। उस समय कई भ्रमण सोना-चाँदी का संघय भी करने लग गए थे। कई भ्रमण इस प्रवृत्ति को धर्म-सम्मत नहीं मानते थे।

चुल्लवग्ग में उन दस बातों का वर्णन है, जिन्हें बज्जी के भिक्षु करते थे, पर यश की मान्यता थी कि वे धर्म-सम्मत नहीं हैं। उन दस बातों में "जातरूपरजतम्" का भी उल्लेख हुआ है। भिक्षु जिनानन्द ने उन दस बातों की चर्चा करते हुए लिखा है।

"चुल्लवग्ग में लिखा है कि बज्जी के भिक्षु दस बातें (दस वत्थूनि) ऐसी करते थे जिन्हें काकण्डकपुत्र यश धर्म-सम्मत नहीं मानता था। वह उन्हें अनैतिक और अधर्मपूर्ण मानता था। बज्जी के भिक्षुओं ने यश को 'पटिसारणीय कम्म' का दण्ड देने का आदेश दिया। यश को अपना पक्ष समर्थन करना पड़ा। जनसाधारण के सामने उसने अपनी बात अव्युक्त वक्तृत्व-कौशल से रखी। इस पर बज्जियों ने 'उपेक्खणीय कम्म' नामक दंड उसे सुनाया, जिसका अर्थ था यश का संघ से निष्कासन।

उपर्युक्त दस वस्तुएँ चुल्लवग्ग में इस प्रकार से दी गई हैं :

१. सिगिलोण कप्प—अर्थात् एक खाली सींग में नमक ले जाना। यह वाचस्पित्य ३८ के विरुद्ध कर्म था; जिसके अनुसार खाद्य संग्रह नहीं करना चाहिए।

२. द्वांगुल कण्ठ—जब छाया दो अंगुल चौड़ी हो तब भोजन करना। यह पाचित्तिय ३७ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार मध्याह्न के बाद भोजन निषिद्ध था।
 ३. गामन्तर कण्ठ—एक ही दिन में दूसरे बौध में जाकर दुबारा भोजन करना। यह पाचित्तिय ३५ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।
 ४. आवास कण्ठ—एक ही सीमा में अनेक स्थानों पर उपोसथ विधि करना। यह महावग्ग के नियमों के विरुद्ध था।
 ५. अनुमति कण्ठ—किसी कर्म को करने के बाद उसके लिए अनुमति प्राप्त कर लेना। यह भी भिक्षु-शासन के विरुद्ध था।
 ६. आक्खिण्ण कण्ठ—रुद्धियों को ही शास्त्र मान लेना। यह भी उपसंस्कृत कोटि का कर्म था।
 ७. अमथिता कण्ठ—भोजन के बाद छाछ पीना। यह पाचित्तिय ३५ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।
 ८. जलोमिम्मानुम्—ताड़ी पीना। यह पाचित्तिय ५१ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार मादक पेय निषिद्ध था।
 ९. अवसकम्-निशिदानम्—जिसके किनारे न हो ऐसे कम्बल या रजाई का उपयोग करना। यह पाचित्तिय ८९ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार बिना किनारे की चादर निषिद्ध थी।
 १०. जातरूपरजतम्—सोने और चाँदी का स्वीकार करना। यह निस्सम्मिय पाचित्तिय के १८वें नियम के अनुसार निषिद्ध था।
- भदन्त यश ने ये सब व्यवहार अधर्मशील बतलाए। उन्हें सब से बहिष्कृत कर दिया गया।^{१३}

दशवैकालिक में भिक्षु के ६२ विशेषण प्राप्त होते हैं, जिनकी सन्दर्भ-संहिता लालिका इस प्रकार है—

१-वीथ कर्म के २५०० वर्ष, "जायकल" का वार्षिक अंक दिसम्बर, १९५६
पृष्ठ ३०-३१।

- १—महर्षि-महेश्वरी । (३।१०) ३२—मिताशन । (८।२६)
 २—परिश्रान्तपंचाश्रव । (३।११) ३३—अनलस्र । (८।४२)
 ३—त्रिगुप्त । ३४—जितेन्द्रिय । (८।४४)
 ४—पंचनिग्रहण । ३५—आलीनगुप्त । ३६—दुःखसह । (८।६३)
 ५—धीर । ३७—अमम । ३८—अकिंचन । ३९—आचारवान् । (६।१।३)
 ६—निर्ग्रन्थ । ४०—सुस्थितात्मा । ४१—अनाबाधमुखाभिकांक्षी । (६।१।१०)
 ७—ऋजुदर्शी । ४२—निर्देशवर्ती । (६।२।२३)
 ८—लघुभूतविहारी । (३।१०) ४३—सूत्रार्थधर्मा । ४४—जिनमत-निपुण । (६।३।१५)
 ९—संयत । (३।१०) ४५—अभिगमकुशल । ४६—निर्जातरूपरजत । (१०।६)
 १०—सुममाहित । ४७—सम्यग्दृष्टि । (१०।७)
 ११—दानपारिषहृत्पु । (३।१३) ४८—अमूढ । ४९—संयमध्रुवयोगयुक्त । (१०।१०)
 १२—धृतमोह । ५०—उपशान्त । ५१—अविहेठक । ५२—व्युत्सृष्टत्यक्तदेह । (१०।१३)
 १३—सर्वभूतात्मभूत । (४।६) ५३—अनिदान । ५४—अकौतूहल । ५५—अध्यात्मरत । (१०।१५)
 १४—पिहितान्त्रव । ५६—सुसमाहितात्मा । ५७—सर्वसंगापगत । ५८—स्थितात्मा । (१०।१७)
 १५—दान्त । ५९—धर्मध्यानरत । (१०।१६)
 १६—सुप्रणिहितेन्द्रिय । (५।२।५०) ६०—अमरमांसाक्षी । (चू०२।७)
 १७—नीचलज्जगुणवान् । ६१—अमत्सरी । ६२—प्रतिबुद्धजीवी । (२।१५)
 १८—निभृत । (६।३)
 १९—सर्वभूतमुखावह । २०—धर्मार्थकाम । (६।४)
 २१—विपुलस्थानभागिन् । (६।५)
 २२—अमोहदर्शी । (६।६७)
 २३—स्वविद्यविद्यानुगत । (६।६८)
 २४—मुधाजीवी । (८।२४)
 २५—रक्षावृत्ति । (८।२५)
 २६—सुसंयुष्ट । २७—अत्येच्छ । २८—सुभर । २९—अतिशिष्ट । (८।२६)
 ३०—अचपल । ३१—अल्पमाषी ।

१३—मोक्ष का क्रम

अन साधना-पद्धति जीव-विज्ञान से प्रारम्भ होती है और आत्म स्वस्व-प्राप्ति में पर्यवसित हो जाती है। साधना का आधार संयम है। वह जीव और अजीव के विवेक ज्ञान पर आधारित है। जो जीव-अजीव को जानता है, वह संयम को जानता है और जो इन्हे नहीं जानता, वह संयम को भी नहीं जानता। इसमें इसी क्रम से मोक्ष तक के मार्ग को स्पष्ट किया है, वह यो है -^१

- १—जीव और अजीव का ज्ञान ।
- २—जीवों की गति का ज्ञान ।
- ३—बन्धन और मुक्ति का ज्ञान ।
- ४—भोग-विरति ।
- ५—आन्तर और बाह्य-संयोगो का परित्याग ।
- ६—अनगार-वृत्ति का स्वीकरण ।
- ७—संवर की साधना ।
- ८—आत्म-गुणारोचक कर्मों का निर्मूलन ।
- ९—केवलज्ञान और केवलदर्शन की संप्राप्ति ।
- १०—योग-निरोध—शैलेयी अवस्था की प्राप्ति ।
- ११—सम्पूर्ण कर्म-क्षय ।
- १२—शाश्वत सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति ।^१

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय ५

व्याख्या-ग्रन्थों के संदर्भ में

१—व्याख्या-ग्रन्थ परिचय

दशवैकालिक की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति है। उसमें इसकी रचना के प्रयोजन, नामकरण, उद्धरण-स्थल, अध्ययनों के नाम, उनके विषय आदि का संक्षेप में बहुत सुन्दर वर्णन किया है। यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती सभी व्याख्या-ग्रन्थों का आधार रहा है। यह पद्यात्मक है। इसकी गाथाओं का परिमाण टीकाकार के अनुसार ३७१ है। इसके कर्ता द्वितीय भद्रबाहु माने जाते हैं। इनका काल-मान विक्रम की पौनवती-छठी शताब्दी है।

इसकी दूसरी पद्यात्मक व्याख्या भाष्य है। चूर्णिकार ने भाष्य का उल्लेख नहीं किया है। टीकाकार भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों में प्रयोग करते हैं।^१ टीकाकार के अनुसार भाष्य की ६३ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता की जानकारी नहीं है। टीकाकार ने भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं किया है।^२ वे निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार से पहले हुए हैं।

हरिभद्र सूरि ने जिन गाथाओं को भाष्यगत माना है, वे चूर्ण में हैं। इससे जान पड़ता है कि भाष्यकार चूर्णिकार के पूर्ववर्ती है।

इसके बाद चूर्णियाँ लिखी गई हैं। अभी दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं। एक के कर्ता अगम्यसिंह स्यविर हैं और दूसरी के कर्ता जिनदास महत्तर (वि० की ७ वी शताब्दी)। मुनि श्री पुष्पविजयनी के मतानुसार अगम्यसिंह चूर्ण का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।^३

१—(क) हारिमन्त्रीय टीका, पत्र ६४ :

भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति ।

(ख) वही, पत्र १२० :

आह च भाष्यकारः ।

(ग) वही, पत्र १२८ व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः । इसी प्रकार भाष्य के प्रयोग के लिए देखें— हारिमन्त्रीय टीका, पत्र १२३, १२५, १२६, १२९, १३३, १३४, १४०, १६१, १६२, २७८ ।

२—हारिमन्त्रीय टीका, पत्र १३२ :

एतामेव निर्युक्तिगार्वा लेखतो व्याख्येयानुराह भाष्यकारः । एतदपि निर्युक्तिगार्वाप्रतापकमिति निर्युक्तिगार्वाप्रतापकमस्तन्युक्तं सूत्रमपि भाष्यकारेणेति गार्वाचः ।

३—बृहत्कल्प भाष्य, भाग-६, आयुष्य वृद्ध ४ ।

अगस्त्यसिंह स्वविर ने अपनी चूर्णि में तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, ओषधिनिर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, कल्प भाष्य आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें अन्तिम रचनाएँ भाष्य हैं। उनके रचना-काल के आधार पर अगस्त्यसिंह का समय पुनः अन्वेषणीय है।

अगस्त्यसिंह ने पुस्तक रचने की औत्सर्गिक और आपवादिक—दोनों विधियों की चर्चा की है।^१ इस चर्चा का आरम्भ देवद्विगणी ने आगम पुस्तकारूढ़ किए तब या उसके आस-पास हुआ होगा। अगस्त्यसिंह यदि देवद्विगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हो तो इनका समय विक्रम की ५वीं-६ठी शताब्दी हो जाता है।

इन चूर्णियों के अतिरिक्त कोई प्राकृत व्याख्या और रही है पर वह अब उपलब्ध नहीं है। उसके अवशेष हरिभद्र सूरि की टीका में मिलते हैं।^२

प्राकृत युग समाप्त हुआ और संस्कृत युग आया। आगम की व्याख्याएँ संस्कृत

१—दशवैकालिक, १।१ अगस्त्य चूर्णि :

उत्तराणसंजमो—पोत्थएसु घेप्पित्सु असंजमो महावणमोल्लेसु वा दूत्तेसु, वज्जजं तु संजमो, कालं पडुच्च चरणकरणट्ठं अब्बोछित्तिजिमित्तं गेण्हत्तस्स संजमो भवति ।

२—हारिमयीय टीका, पत्र १६५ :

तथा च वृद्धव्याख्या—वेसाविगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अनुवओणेणं एसणा-करणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसज्जवयणं, मणजुष्णायावेसाइवंसणे अबत्तादाणं, ममत्तकरणे परिण्हो, एवं सज्जवयपीडा, वज्जसामने पुण संसयो उण्णिक्खमणेण ति ।

जिनदास चूर्णि (पृष्ठ १७१) में इस भाष्य की जो पंक्तियाँ हैं, वे इन पंक्तियों से भिन्न हैं। जैसे—“अइ उण्णिक्खमइ तो सज्जवया पीडिया, भवति, अह्मि ण उण्णिक्खमइ तोमि तमायमाणस्सत्त भावाओ मेहुणं पीडियं भवइ, तमाय-माणसो य एत्थं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, ओएमाओ पुच्छिज्जइ—कि ओएसि ?, ताहे अबलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहि पाणुष्णायाउत्तिकाउं अबिष्णावाणपीडा भवइ, तासु य ममत्तं करेत्तस्स परिण्हपीडा भवति ।”

अगस्त्य चूर्णि की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—तस्स पीडा वयाण तानु गमजित्तो रियं न सोहेतित्ति पाणातिवातो पुच्छित्तो कि ओएसित्ति ? अबलवति मुसावातो, अबत्तादाणमणजुष्णातो तित्थकरेहि मिहुणे वि गममाओ पुच्छाए परिण्हो वि ।

भाषा मे लिखी जाने लगी । इस पर हरिभद्र सूरि ने संस्कृत मे टीका लिखी । इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है ।

यापनीय संघ के अपराजित सूरि (या विजयाचार्य—विक्रम की आठवीं शताब्दी) ने इस पर 'विजयोदया' नाम की टीका लिखी । इसका उल्लेख उन्होंने स्वरचित आराधना की टीका मे किया है ।^१ परन्तु वह अभी उपलब्ध नहीं । हरिभद्र सूरि की टीकाको आधार मान कर तिलकाचार्य (विक्रम की १३-१४ वीं शताब्दी) ने टीका, माणिक्यशेखर (१५ वीं शताब्दी) ने निर्युक्ति-दीपिका तथा समयमुन्दर (विक्रम की १६११) ने दीपिका, विनयहंस (विक्रम सं० १५७३) ने वृत्ति, रामचन्द्र सूरि (विक्रम सं० १६७८) ने वार्तिक और पायचन्द्र सूरि तथा धर्मसिंह मुनि (विक्रम की १८वीं शताब्दी) ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में टब्बा लिखा । किन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नहीं है । ये सब सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से रचे गए हैं । इसकी महत्वपूर्ण व्याख्याएँ तीन ही हैं—दो चूर्णियाँ और तीसरी हरिभद्रीय वृत्ति ।

१-भाषा ११९७ की वृत्ति:

इतिवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपञ्चिता उदयमाधिवोषा इति नेह प्रसिध्यते ।

२—व्याख्यागत प्राचीन परम्पराएँ

दशबैकालिक के व्याख्या-ग्रन्थों में अनेक प्राचीन परम्पराओं का उल्लेख है। कुछ इस प्रकार हैं—

१—एक बार शिष्य ने पूछा—“जैन-शामन में पाँच महाव्रत प्रसिद्ध हैं तो फिर रात्रि-भोजन का वर्जन महाव्रतों के प्रकरण में क्यों ?” आचार्य ने कहा—“प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तत्कालीन जन-मानस की दृष्टि से ऐसी प्रस्थापना की गई है। प्रथम तीर्थंकर के काल में मनुष्य ऋजु-जड थे और अन्तिम तीर्थंकर के काल में वक्र-जड। इसीलिए इस व्रत को महाव्रतों के प्रकरणों में स्थापित कर दिया गया ताकि वे इसे महाव्रत के रूप में मानते हुए इसका भंग न करें। जेष बार्हम तीर्थंकरों के काल में यह उत्तर-गुण की कोटि में था।”

शिष्य ने पूछा “यह क्यों ?” आचार्य ने कहा—“मध्यवर्ती बार्हम तीर्थंकरों के काल में मनुष्य ऋजु-प्राज्ञ थे। वे रात्रि-भोजन का सहज भाव में परित्याग कर देते थे।”

२—भिक्षा ग्रहण की विधि में भी स्थविर-कल्पिक और जिन-कल्पिक मृत्तियों में भिन्नता है। जिस स्त्री के गर्भ का तीर्था मास चल रहा हो, ऐसी काल-मासवती स्त्री में स्थविर-कल्पिक मृत्ति भिक्षा ग्रहण कर लेते हैं परन्तु जिन-कल्पिक मृत्ति जिस दिन में स्त्री गर्भवती होती है, उसी दिन में उसके हाथ में भिक्षा लेना बन्द कर देते हैं।

३—स्ननजीवी बालक को स्नन-पान छूटा स्त्री भिक्षा दे तो, बालक रोए या न रोए, गच्छवासी मुनि उसके हाथ में भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक को स्ननजीवी न हो, दूसरा आहार भी करने लगा हो और यदि वह छोड़ने पर न रोए तो गच्छवासी मुनि उसकी माता के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। स्ननजीवी बालक चाहे स्नन-पान न कर रहा हो फिर भी उसे अलग करने पर रोने लगे उस स्थिति में भी गच्छवासी मुनि भिक्षा नहीं लेते।

गच्छ-निर्गम मुनि स्ननजीवी बालक को अलग करने पर, चाहे वह रोए या न रोए, स्नन-पान कर रहा हो या न कर रहा हो, उसकी माता के हाथ से भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक दूसरा आहार करने लगा हो उस स्थिति में उसे स्नन-पान करते हुए को छोड़ कर, फिर चाहे वह रोए या न रोए, भिक्षा दे तो नहीं लेते और यदि वह स्नन-पान न

१—जिनदास धूर्ति, पृष्ठ १५३।

२—वही, पृष्ठ १८० :

जा पुण कालमासिणी पुब्बुद्धिया परिवेसेत्ती य वेरकप्पिया गेण्हंति, जिक्कप्पिया पुण जट्ठितमेव आवन्नसत्ता भवति तस्मो विवसाओ आरद्धं पट्ठिरंति ।

कर रहा हो फिर भी अलग करने पर रोए तो भी भिक्षा नहीं लेते । यदि न रोए तो वे भिक्षा ले सकते हैं ।^१

शिष्य ने पूछा—“बालक को रोते छोड़ कर भिक्षा देने वाली दृष्टिणी से लेने में क्या दोष है ?” आचार्य ने कहा—“बालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने से श्वं कठोर हाथों से उठाने में बालक में अस्थिरता आती है । इससे परिताप दोष होता है । बिल्ली आदि उसे उठा ले जा सकती है ।”

१—(क) अगस्त्य चूर्णि :

गच्छवासीण यणजीवी यणं पियंतो निक्खित्तो रोवतु वा मा वा अग्गहणं, अह अपिबंतो णिक्खित्तो रोबंतं (अग्गहणं, अरोबंतं) गहणं, अह मत्तं पि आहारेति तं पिबंतं निक्खित्तं रोबंतं अग्गहणं, अरोबंतं गहणं । गच्छनिग्गताण यणजीविम्म णिक्खित्तं पिबंतं (अपिबंतं) वा रोबंतं (अरोबंतं) वा अग्गहणं, भत्ताहारे पिबंतं निक्खित्तं रोयमाणे अरोयमाणे वा अग्गहणं, अपिबंतं रोयमाणे अग्गहणं, अरोयमाणे गहणं ।

(ख) जिनवास चूर्णि, पृष्ठ १८० :

तत्थ गच्छवासी जत्ति यणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हंति रोवतु वा मा वा, अह अन्नं पि आहारेति तो जत्ति न रोवइ तो गेण्हंति, अह अपियंतओ णिक्खित्तो यणजीवी रोवइ तो ण गेण्हंति, गच्छनिग्गया पुण जाव यणजीवी ताव रोवउ वा मा वा अपियंतओ पियंतिओ वा न गेण्हंति, जाहे अन्नं पि आहारेउं पयत्तो भवति ताहे जइ पियंतओ तो रोवइ मा वा ण गेण्हंति, अपियन्तओ अबि रोवइ परिहरंति अरोबंतं गेण्हंति ।

(ग) हारिमन्नीय टीका, पत्र १७२ :

चूर्णि का ही पाठ यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ ‘अत्रायं बृहत्सम्प्रदायः’ कहकर उद्धृत किया है ।

२—(क) अगस्त्य चूर्णि :

एत्थ बोसा—सुकुमालसरीरस्स खरेहि हत्थेहि सयणीए वा पीडा, मज्जारतीवा साणावहरणं करेज्जा ।

(ख) जिनवास चूर्णि, पृष्ठ १८०-८१ :

सीसो आह—को तत्थ बोसोसि ?, आयरिओ आह— तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहि हत्थेहि धेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण वरित्तावणाबोसो मज्जारोइ वा अबवरेज्जा ।

(ग) हारिमन्नीय टीका, पत्र १७२ ।

(४) स्वविर-कल्पिक मुनि प्रमाण युक्त केश, नल आदि रखते हैं । जिन-कल्पिक मुनि के केश और नल दीर्घ होते हैं ।^१

(५) अग्नि की मंद आँच से पकाया जाने वाला अपक्वपिष्ट एक ग्रहुर में परिणत होता है और तेज आँच से पकाया जाने वाला शीघ्र परिणत हो जाता है ।

(६) कुहरा प्रायः शिशिर ऋतु—गर्भ मास में पड़ा करता है ।

१—जिनवास चूर्णि, पृष्ठ २३२ :

बीहाणि रोमाणि कक्कीवत्पगंधादीसु...नहाणि अलसतयाऽनपायोगा, न
छन्नांति ते बीहा धारेडं, जिक्कप्पियादीन बीहाणि ।

३-आहार-चर्या

दशबैकालिक एक आचार-शास्त्र है, इसलिए उसके व्याख्या-ग्रन्थ उसी मर्यादा के प्रतिनिधि हों, यह अस्वाभाविक नहीं है। जो आचार-संहिताएँ बनती हैं, वे देश-काल और पारिपार्श्विक वातावरण को अपने-अपने कलेवर में समेटे हुए होती हैं। यही कारण है कि उनसे हमें मूल प्रतिपाद्य के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। इतिहास-ग्रन्थ जैसे आचार-संहिताओं के परोक्ष-स्रोत होते हैं, वैसे ही आचार-ग्रन्थ इतिहास के परोक्ष स्रोत होते हैं। दशबैकालिक और उसके व्याख्या-ग्रन्थ ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है फिर भी उनमें भारतीय इतिहास के अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं। व्याख्या-कारों ने विषय का स्पर्श करते हुए अपने अध्ययन का प्रचुर उपयोग किया है। उनके बाहुभूत्य के साथ-साथ अनेक नवीन ज्ञान-स्रोत प्रवाहित हुए हैं।

निर्युक्तिकार और चूर्णिकार ने साधु को चर्या और कर्त्तव्य-विधि का जिस उदाहरण शैली में निरूपण किया है, वह रसात्मक ही नहीं, प्राणि-जगत् के प्रति हमारे दृष्टिकोण को कुशाग्रीय बनाने वाली भी है।

इस सूत्र के पहले अध्ययन का नाम 'द्रुम-पुष्पिका' है। इसमें मुनि आहार कैसे करें और कैसा लें—इन दो प्रश्नों का स्पष्ट निरूपण है। किन्तु वह आहार किसलिए लें, कैसे लें और उसका फल क्या है—इन प्रश्नों का स्पष्ट निरूपण नहीं है। निर्युक्तिकार ने इन स्पष्ट और अस्पष्ट प्रश्नों का संक्षेप में बड़ी भाषिकता से स्पर्श किया है। चूर्णिकार और टीका में निर्युक्तिकार के वक्तव्य को कुछ विस्तृत शैली में समझाया गया है। निर्युक्तिकार ने द्रुम-पुष्पिका अर्थात् मुनि की आहार-चर्या के चौदह पर्यायवाची नाम बतलाए हैं।

१—द्रुम-पुष्पिका

८—सर्प

२—आहार-एषणा

९—व्रण

३—योचर

१०—अक्ष

४—त्वक्

११—तीर

५—उच्छ्र

१२—गोला

६—शेष

१३—पुत्र

७—जलक

१४—उदक

१—दशबैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३७।

इसमें १, २, ३, ४, ६, ७, ११ और १२ का विषय है—मुनि आहार कैसे ले और कैसे ले ? ; ८ का विषय है—मुनि कैसे खाए ? ; ९, १० और १३ का विषय है—मुनि किसलिए खाए ? और ४, १३, १४ का विषय है—भोजन करने का फल क्या है ?

१. द्रुमपुष्पिका .

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम के पुष्प, जो अकृत और अकारित होते हैं, को म्लान किए बिना रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण भी अपने लिए अकृत और अकारित तथा गृहस्थों को म्लान किए बिना, आहार ग्रहण करे ।^१

२. आहार-एषणा

इसमें तीनो एषणाओ- गवेयणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का ग्रहण किया है । मुनि उद्गम के १६ दोष, उत्पादन के १६ दोष और एषणा के १० दोषों से रहित भिक्षा ले ।^२

३. गोचर

एक वणिक् के घर एक छोटा बछड़ा था । वह सबको बहुत प्रिय था । घर के सारे लोग उसकी बहुत सार-संभाल करते थे । एक दिन वणिक् के घर जीमनवार हुआ । सारे लोग उसमें लग गए । बछड़े को न घास डाली गई और न पानी पिलाया गया । दुपहरी हो गई । वह भूख और प्यास के मारे रभाने लगा । कुल-बधू ने उसको सुना । वह घास और पानी को लेकर गई । घास और पानी को देख बछड़े की दृष्टि उन पर टिक गई । उसने कुल-बधू के बनाव और शृङ्गार की ओर ताका तक नहीं । उसके मन में विचार तक नहीं आया कि उसके रूप-रंग और शृङ्गार को देखे ।

इसका सार यह है कि बछड़े की तरह मुनि भिक्षाटन की भावना से अटन करे । रूपा आदि को देखने की भावना से चंचल चित्त हो गमन न करे ।^३

४. त्वक् :

घृण चार प्रकार के होते हैं :—

- | | |
|----------------|----------------|
| (१) त्वक् खादक | (३) काष्ठ-खादक |
| (२) छल्लि खादक | (४) सार-खादक |

१—जिनवास चूर्णि, पृष्ठ १२ :

जहा ममरो द्रुमपुष्फेहितो अकयमकारियं पुष्पं अकिलानेत्तो आहारेति, एवं अकयमकारियं निरुबधं गृहत्वाणं अपीलमं आहारं गेह्णइ ।

२—वही, पृष्ठ १२ तथा दशवैकालिक (भा०-२), पृष्ठ १९४, १५, १६ ।

३—वही, पृष्ठ १२ ।

इसी प्रकार भिक्षु भी चार प्रकार के होते हैं :

- (१) कई भिक्षु त्वक् खादक होते हैं पर सार खादक नहीं ।
- (२) कई भिक्षु सार खादक होते हैं पर त्वक् खादक नहीं ।
- (३) कई भिक्षु त्वक् खादक होते हैं और सार खादक भी ।
- (४) कई भिक्षु न त्वक् खादक होते हैं और न सार खादक ।

जो भिक्षु त्वचा को खाने वाले घृण के समान होता है, उसके सार को खाने वाले घृण के समान तप होता है ।

जो भिक्षु सार को खाने वाले घृण के समान होता है, उसके त्वचा को खाने वाले घृण के समान तप होता है ।

जो भिक्षु छाल को खाने वाले घृण के समान होता है, उसके काठ को खाने वाले घृण के समान तप होता है ।

जो भिक्षु काठ को खाने वाले घृण के समान होता है, उसके छाल को खाने वाले घृण के समान तप होता है ।

५. उच्छ्र :

मुनि अज्ञात पिण्ड ले, पूर्व सूचना के बिना ले, जाति आदि का परिचय दिए बिना ले ।^१

६. मेघ :

जिस प्रकार मेघ पानी को हिलाए-डुलाए बिना ही पी लेता है और अपनी प्यास बुझा लेता है, उसी प्रकार भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि भी बीज, हरित आदि को लांघते समय हलफ़ल न करे । ऐसी कोई उतावल न करे, जिससे दाता मूढ़ बन जाए । वह बीज आदि का अतिक्रमण करता हो तो उसे धैर्य से जताए, जिससे वह उनपर पंर भी न रखे और मूढ़ भी न बने ।^२

७. जलूक :

जोंक जैसे मृदुता से रक्त बीच लेती है, वैसे ही अविधि से देने वाले दाता के दोष का मृदु-वचनों से निवारण करे ।^३

१-जितवास धूर्ध्वि, पृष्ठ १२ ।

२-वही, पृष्ठ १२ :

जहा मेसो अणायुगार्णितो पिबेति एवं साट्टणाधि मिश्रापबिन्दुष्व् वीर्यकमणाधि च सह्य हल्लकल्लं कायर्णं जहा निम्बसाए दाया मूढो भवइ, सो वा तेण वारेवण्णो जेष परिहरइ ।

३-वही, पृष्ठ १२ ।

८. सर्प :

जिस प्रकार सर्प भट से बिल में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार मुनि भी मुँह में क्षिप्त कबल को स्वाद के लिए इधर-उधर घुमाए बिना भट से निकल जाए ।^१

९. व्रण :

जिस प्रकार व्रण को शान्त करने के लिए उम पर लेप किया जाता है, उसी प्रकार अर्घ्य को शान्त करने—धृति की सुरक्षा के लिए मुनि आहार करे, रूप आदि को बढ़ाने के लिए नहीं ।^२

१०. अक्ष :

जिस प्रकार यात्रा को निर्वाध-रूप से सम्पन्न करने के लिए गाड़ी के पहियों में तेल चुपड़ा जाता है, उसी प्रकार संयम-भार को वहन करने के लिए मुनि आहार करे ।^३

११. तीर :

जिस प्रकार रथिक अपने लक्ष्य में तन्मय होकर ही उसे बीध सकता है, अन्यथा नहीं, उसी प्रकार भिक्षा के लिए धृमता हुआ मुनि भी संयम-लक्ष्य में तन्मय होकर ही उसे प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं । शब्द आदि विषयों में व्याप्ति होकर वह संयम से स्थलित हो जाता है ।^४

१२ गोला

लास को यदि अग्नि के अत्यन्त निकट रखा जाए तो वह बहुत पिघल जाती है, उसका गोला नहीं बनाया जा सकता और यदि उसे अग्नि से अति दूर रखा जाए तो

१—जिनवास धूर्णि, पृष्ठ १२ :

अहा सप्यो सरसि बिले पविसति तहा साहुणा बि अजासाबेतैन हणुयं अतंत-
रतिर्न आहारयत्नं ।

२—वही, पृष्ठ १२-१३ :

अहा वणत्स मा फुट्टिहिहि तो से मक्खनं विज्जइ, एवं इमस्मवि जीवत्स मा
चित्तिक्खयं करेहिइ तो से विज्जइ आहारो, न वण्णाइहेउ ।

३—वही, पृष्ठ १३ :

अहा सणत्स जत्तासाहुण्णो अन्नंगो विज्जइ, एवं संजममरवहत्थत्वं आहा-
रेयत्नं ।

४—वही, पृष्ठ १२ :

अहा रत्थिओ लक्खं बिचिउकायो तदुवत्तो बिचइ, वविसत्तचित्तो फिट्ठइ,
एवं साहुणि उवत्तो मिक्खं हिंत्तो संजमलक्खं बिचइ, वविसत्तचित्तो सहाइएसु
फिट्ठइ ।

वह पिघलती नहीं। ऐसी स्थिति में भी गोला नहीं बनाया जा सकता। लास्य का गोला नहीं बन सकता है जबकि उसे न अग्नि से अति दूर रखा जाए और न अति निकट। इसी प्रकार भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि यदि अतिभूमि (भिक्षुओं के लिए गृह में निर्धारित भूमि) से आगे चला जाता है तो गृहस्वामी को अविश्वास हो सकता है, अप्रीति हो सकती है। यदि वह बहुत दूर खड़ा रहता है तो पहली बात है कि दृष्टिगोचर न होने के कारण उसे भिक्षा ही नहीं मिलती और दूसरी बात है कि गृहस्थ कैसे देता है, उसकी एषणा नहीं हो पाती। इसलिए मुनि भिक्षा-भूमि की मर्यादा को जान कर उससे अति दूर या अति निकट न ठहरे, उचित म्यान पर ठहरे।^१

१३ पुत्र :

जैसे कोई पुरुष अत्यन्त अनिवायं स्थिति में अपने पुत्र का मांस खाता है—धन्य सार्धबाह ने अपनी पुत्री 'मुमुमा' का मांस केवल जीवन रह कर राजगृह पहुँचने के लिए खाया था, किन्तु वर्ण, रूप, बल आदि बढ़ाने के लिए नहीं—वैसे ही मुनि निर्वाण-लक्ष्य की साधना के लिए आहार कर किन्तु वर्ण, रूप आदि बढ़ाने के लिए नहीं।^२

१४ उदक

त्रिम प्रकार एक वणिक् ने रत्नों की सुरक्षा के लिए अपेय जल पीया था, उसी प्रकार मुनि रत्नत्रयी—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य—की सुरक्षा के लिए आहार करे।^३

तथा—

वृक्षों की यह प्रकृति है कि वे अपने अनुकूल ऋतु में पुष्पित होते हैं और उचित

१-जिनवास चूर्णि, पृष्ठ १३ :

जहा जुंमुमि गोलए कज्जमाणे जइ अग्निणा अतिहियाविज्जइ ता अतिवव-
त्तणेन न सक्कइ काउं, अह व नेवज्जियाविज्जइ नो वेव मिथरति, णातिहूरे
णातिआसण्णे अ कए सक्कइ बंधिउं, एवं मिक्खापविट्ठो साहू जइ अइसुणीए
बिसइ तो तेसि अनाएहत्थाणं अप्पसिंयं मवइ तेज य संकमाविडोसा, अह हूरे
तो न बीसइ एसजायाओ य मवइ, तम्हा कुलस्स भूमि जाणित्ता नाइहूरे
णासण्णे ठाइयणं ।

२-वही, पृष्ठ १३ ।

३-वही, पृष्ठ १३ ।

काल में फल भी देते हैं ।^१ उसी प्रकार पचन-पाचन भी गृहस्थों की प्रकृति है । साधु पचन-पाचन से दूर रहता है ।^२

भ्रमर स्वाभाविक रूप से पुष्पित फूलों से रस लेकर अपने आपको तृप्त कर लेता है, वैसे ही श्रमण भी स्वाभाविक रूप से गृहस्थ के लिए बने हुए भोजन में से कुछ लेकर अपने आपको तृप्त कर लेता है ।^३ जैसे—स्वभाव-कुमुदित द्रव्यों को बाधा दिए बिना भ्रमर रस लेते हैं, उसी प्रकार श्रमण भी नागरिकों को बाधा दिए बिना, उनके (नागरिकों) लिए सहज बना हुआ भोजन लेते हैं ।^४

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, शाखा १०८ :

पर्यै एस बुभार्णं जं उउसमयम्मि आगए संते ।

पुष्कंति पायववणा फलं च कालेण वंचंति ॥

२—जिनवास खूणि, पृष्ठ ६८ ।

६—वही, पृष्ठ ६८ ।

४—वही, पृष्ठ ६८-६९ ।

४-मुनि कैसा हो ?

वनस्पति तथा प्राणि-जगत् के स्वभावों की विचित्रता आज भी आश्चर्यकारक है और इनका स्वतंत्र अध्ययन अपने आप में महत्वपूर्ण है। निर्युक्तिकार और चूर्णिकार ने श्रमण के अनेक गुणों को स्पष्ट करने के लिए वनस्पति-जगत्, प्राणि-जगत् तथा अन्त्यान्य चर-अचर पदार्थों के गुणों को छुआ है और उनके माध्यम से श्रमण के जीवन को स्पष्ट करने का मुन्दरतम प्रयास किया है। उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्तों से इस विषय को समझाया है, अतः यह दुर्लभ विषय भी सरल बन गया है। इसके अध्ययन से श्रमण की चर्या, मानसिक विकास तथा चारित्रिक विकास का स्पष्ट प्रतिबिम्ब सामने आ जाता है। निर्युक्तिकार ने बारह उपमाओं द्वारा भिक्षु का स्वरूप बतलाया है।^१ टीकाकार ने एक भिन्न कर्तृक गाथा को उद्धृत करते हुए श्रमण के लिए ग्यारह उपमाएँ प्रस्तुत की हैं।^२ उनमें कई पुनरुक्त भी हैं।

१. वह सर्प जैसा हो :

यहाँ सर्प की तुलना तीन बातों से की गई है :

१. सर्प जैसे एकाग्र-दृष्टि वाला होता है, वैसे ही मुनि भी धर्म में एकाग्र-दृष्टि वाला हो।
२. सर्प जैसे पर-कृत बिल में रहता है, वैसे मुनि भी पर-कृत घर में रहे।^३
३. सर्प जैसे बिल में भट से प्रविष्ट हो जाता है, वैसे मुनि भी आहार को भट से निगल जाए।^४

१-वसवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५७ :

उरगगिरिजलणसत्ताचरन्नुत्तल्लणसमो य जो होई ।

ममरन्निगघरन्निजल्लहरक्खिणसमो जमो समणो ॥

२-हारिमग्रीय टीका, पत्र ८३ ।

३-जिलवास चूर्णि, पृष्ठ ७२ :

अहा उरगसत्तेण होयब्बं, तत्थ एगंतविट्ठिसत्तेणं धम्मं पडुब्बं कायब्बं, परकड-परिणिट्ठियासु वसहीसु वसितब्बं ।

४-अगस्थ चूर्णि :

जिलक्खिण्णगगुत्तेण अप्पाजेण आहारवसिं अहा विल्लं वग्गणं नासाएत्ति ।

२. वह पर्वत जैसा हो :

जैसे पर्वत पवन से अप्रकम्पित होता है, उसी प्रकार मुनि भी कष्टों से अप्रकम्पित हो। किन्तु पर्वत की तरह जड़ और कठोर न हो।^१

३. वह अग्नि जैसा हो :

जैसे अग्नि इन्धन आदि से तृप्त नहीं होनी, उसी तरह मुनि भी ज्ञान से तृप्त न हो।

जैसे अग्नि जलाते समय—इसे जलाना चाहिए, इसे नहीं—यह भेद नहीं करती,^२ उसी प्रकार मुनि भी मनोज्ञ व अमनोज्ञ आहार में भेद न करे—राग-द्वेष न करे।

४. वह सागर जैसा हो :

सागर जैसे गम्भीर होता है, अथाह होता है, रत्नों का आकर होता है और मर्यादा का अनतिक्रमणकारी होता है, उसी प्रकार मुनि भी गम्भीर हो, अथाह हो, ज्ञान का आकर हो और मर्यादा का अनतिक्रमणकारी हो।

(किन्तु सागर की तरह ब्यारा होने के कारण अमृहणीय न हो)^३

१-(क) हारिमद्वीय टीका, पत्र ८३ :

गिरिसमः परीषहपवनकम्प्यत्वात् ।

(ख) जिनदास धूर्ति, पृष्ठ ७२ :

पञ्चय सरितेण साधुणा होयब्बं, तस्स पुण पञ्चयस्स अण्णाणमावं क्षरमावं च उज्झिऊणं तेजस्सित्तणं परिगिऊह ।

२-जिनदास धूर्ति, पृष्ठ ७२

जह वा सो अमी इण्णादीणि इहमाणे जो कत्थइ वित्तेसं करेनि—इमं उहितब्बं इमं वा अइहणीयं. एवं मणुष्णामणुष्से अण्णाणाबिसू फासुएसणिज्जेसु रागो बोसो वा न कायब्बो ।

३-(क) जिनदास धूर्ति, पृष्ठ ७२ :

सागरसरित्तिण होयब्बं साधुणा, सो य गतीए क्षारत्तणेण अपेयो न एयं वेण्णइ, किं तु जाणि य समुदस्स गंभीरत्तं अगाहत्तणं च ताणि वेण्णंति, कहं ? साधुणा सागरो इव गंभीरेण होयब्बं, नाणवंसणवरित्तेहिं य अगाहेण भवित्थं ।

(ख) हारिमद्वीय टीका, पत्र ८३ :

सागरस्सो गम्भीरत्वाज्जानादिरत्नाकरत्वात् स्वमर्यादानतिक्रमाच्च ।

५. वह आकाश जैसा हो :

जैसे आकाश निरुक्लेप और निरालम्ब होता है, उसी प्रकार मुनि भी माता-पिता आदि में अलिप्त हो और स्वावलम्बी हो ।^१

६. वह वृक्ष जैसा हो :

जैसे वृक्ष पक्षियों के लिए आधारभूत होता है और छेदन-भेदन या पूजा करने पर समवृत्ति रहता है, उसी प्रकार मुनि भी मोक्ष-फल चाहने वालों के लिए आधारभूत हो और मान-अपमान में सम हो ।^२

७. वह भ्रमर जैसा हो :

जैसे भ्रमर अनियत-वृत्ति वाला तथा अपनी भूख, देश और काल को जान कर बतने वाला होता है, उसी प्रकार मुनि भी अनियत-वृत्ति वाला तथा अपनी भूख, देश और काल को जानने वाला हो ।^३

८. वह मृग जैसा हो :

जैसे मृग सदा उद्विग्न—भयभीत रहता है, उसी प्रकार मुनि भी संसार के भय से सदा उद्विग्न हो, सदा अप्रमत्त हो ।^४

९. वह पृथ्वी जैसा हो :

जैसे पृथ्वी सभी स्पर्शों को समभाव से सहती है, उसी प्रकार मुनि भी सभी स्पर्शों को समभाव से सहने वाला हो ।^५

१—जिनवास चूर्णि, पृ० ७२ ।

२—(क) हारिमन्त्रीय टीका, पत्र ८३ ।

(ख) जिनवास चूर्णि, पृष्ठ ७२ ।

३—वही, पृ० ७२ :

अमरेण च अनियतवृत्तिना भवितव्यं, क्वं ? ममरो जहा एस जेव हेट्ठा उबरं
वेसं कालं च नाऊण चरइ, एवं साहुणावि गोघरचरियाविसु वेसं कालं च
वाऊण चरियव्वं ।

४—वही, पृ० ७२ :

जहा भिगो जिण्णुब्बिमो तथा जिण्णकालमेव संसारमउब्बिजेण अप्पमत्तेण
भवियव्वं ।

५—वही, पृ० ७२ :

घरणी विव सव्वकासविसहेण साहुणा भवितव्वं ।

१०. वह कमल जैसा हो :

जैसे कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, पानी में समृद्ध होता है, फिर भी उनसे अलिप्त रहता है। उसी प्रकार मुनि भी काम से उत्पन्न हुआ, भोगों से बड़ा, फिर भी उनसे अलिप्त हो।^१

११. वह सूर्य जैसा हो :

जैसे सूर्य तेजस्वी होता है और समस्त लोक को भेदभाव किए बिना प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मुनि भी तेजस्वी हो तथा राजा और रंक का भेद किए बिना सबको समान रूप से धर्म का उपदेश देने वाला हो।^२ कहा भी है—जैसे बड़े आदमी को धर्म कहे वैसे ही तुच्छ को कहे और जैसे तुच्छ को कहे वैसे बड़े आदमी को कहे।

१२. वह पवन जैसा हो :

जैसे पवन अप्रतिबद्ध होता है—मुक्त होकर चरता है, उसी प्रकार मुनि भी अप्रतिबद्ध-विहारी हो।^३

१३. वह विष जैसा हो :

जैसे विष सर्व रसानुपाती होता है—सभी रसों को अपने में समाहित कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी सर्व रसानुपाती हो—प्रिय-अप्रिय आदि सभी स्थितियों को अपने में समाहित करने वाला हो। कहा भी है—

“हम मनुष्य हैं। न मित्र हैं और न पण्डित, न मानी हैं और न घन-नक्ति। जैसे-जैसे लोग होते हैं, हम भी वैसे ही बन जाते हैं जैसे कि विष रस के अनुरूप ही अपने को परिवर्तित कर लेता है।”^४

१-जिनवास चूर्णि, पृ० ७२ :

जहा पउमं पके जायं जले समिद्धं तेहिं जेब मोबल्लिय्यइ, एवं साहुणाणि कामेहि जाएण भोगेहिं संबद्धिएण तहा कायब्बं जहा तेहि न लिय्यइ।

२-वही, पृ० ७२-७३ :

सूरो इव तेयसा कुलेण साहुणा भवितब्बं, जहा सूरोदयो समंता भवित्तेसेण लोमं पयासेइ, एवं साहुणाणि बम्मं कहंतेण राइणो बासस्स भवित्तेसेण कहेयब्बं।

३-वही, पृ० ७३ :

जहा पवणो कल्पइ ण पडिबद्धो तहा साहुणाणि अपडिबद्धेण होयब्बं।

४-वही, पृ० ७३ :

साहुणा विससमेण भवितब्बं, जणियं च—

बयं मणुस्सा ण सहा ण पंडिया, ण माणिणो जेब य अत्थगन्धिया।

जणं जणं (तो) पनवानु तारिस्सा, जहा विसं सव्वरसानुबादिणं ॥

१४. वह तिनिश जैसा हो :

जैसे तिनिश का पोधा सब ओर झुक जाता है, उसी प्रकार मुनि भी बड़ों के प्रति नम्र हो तथा श्रुत और अर्थ-ग्रहण के लिए छोटी के प्रति भी नम्र हो ।^१

१५. वह वंजुल-वेतस जैसा हो :

जैसे वंजुल के नीचे बँटने से सर्प निर्विष हो जाते हैं, उसी प्रकार मुनि भी दूसरों को निर्विष करने वाला हो—उसके पास आए हुए क्रोधाकुल पुरुष भी उपशान्त हो जाँय—ऐसी क्षमता वाला हो ।^२

१६. वह कर्णवीर (कणेर) के फूल जैसा हो :

जैसे सभी फूलों में कणेर का फूल स्पष्ट और गन्ध रहित होता है, उसी प्रकार मुनि भी सर्वत्र स्पष्ट और अशील की गन्ध से रहित हो ।^३

१७. वह उत्पल जैसा हो :

जैसे उत्पल सुगंधयुक्त होता है, उसी प्रकार मुनि भी शील की सुगन्ध से युक्त हो ।^४

१—जिनवास चूर्णि, पृ० ७३ :

तिथिसा जहा सम्बतो नमइ एवं जहाराइणिणं नमित्तब्बं, सुसत्त्वं च पडुण्णं ओमराइणिणसुवि नमियब्बं ।

२—वही पृ० ७३ :

वंजुलो नाम वेतलो, तस्स किल हेतुं चिद्धिया सप्पा निब्बिसी मवन्ति, एरित्तेण साट्ठणा मवित्तब्बं, जहा कोहाइएहि महावित्तेहिं अनिन्नए जीवे उवसायेइ ।

३—वही, पृ० ७३ :

कर्णवीरपुष्पं सम्बपुष्पेसु पाण्डवं शिष्यां च, एवं साट्ठणावि सम्बत्थ पाण्डवेण मवियब्बं, जहा असुइत्ति एस निमांवेणं असुज्जमंवे न मवइ सीत्तस्स एवं मवियब्बं ।

४—वही, पृ० ७३ :

उत्पलसरित्तेण साट्ठणा मवियब्बं, कहं ? जहा उत्पलं सुगंधं तथा साट्ठणा सीत्तसुगंधेण मवियब्बं ।

१८. वह खंदुर जैसा हो

जैसे चूहा उपयुक्त देश और काल में विचरण करता है, उसी प्रकार मुनि भी उपयुक्त देश-काल-चारी हो ।^१

१९. वह नट जैसा हो

जैसे नट बहुरूपी होता है, कभी राजा का और कभी दास का वेश धारण कर लेता है । उसी प्रकार मुनि भी हर स्थिति व काम करने में अपने को वैसे ही बना लेता है ।^२

२०. वह मुर्गे जैसा हो

जैसे मुर्गा प्राप्त अनाज को पंखों में बिखेर कर चुगता है ताकि दूसरे प्राणी भी उनको चुग सकें (खा सकें), उसी प्रकार मुनि भी संविभागी हो—प्राप्त आहार के लिए दूसरों को निर्मात्रित कर खाने वाला हो ।^३

२१. वह काँच जैसा हो

जैसे काँच निर्मल और प्रतिबिम्बग्राही होता है, उसी प्रकार मुनि भी निर्मल और प्रतिबिम्बग्राही हो । काच वंसा ही प्रतिबिम्ब लेता है, जैसी वस्तु सामने आती है । उसी प्रकार मुनि भी तरुणों में तरुण, स्थविगों में स्थविग और बच्चों में बच्चा बन जाए ।^४

१—(क) हारिमद्रीय टीका, पत्र ८४ :

उन्मुक्तमेन उपयुक्तदेशकालचारितया ।

(ख) जिनदास धूर्ति में इसका उल्लेख नहीं है ।

२—जिनदास धूर्ति, पृ० ७३ :

जहा से बहुलवि रायवेसं काजं दासवेसं धारेइ एवभाई, एवं साहुणा माणा-
बमाणेसु नवसरितेण भवियळं ।

३—वही, पृ० ७३ :

कुबकुडो जं लग्गइ तं पाएण बिक्किरइ ताहे अण्णेवि सत्ता जुणंति, एवं
संविमाणलुङ्गा भवियळं ।

४—हारिमद्रीय टीका, पत्र ८४ :

आदर्शसमेन निर्मलतया तदणाद्यनुवृत्तिप्रतिबिम्बभावेन च, उक्तं च—

तद्यन्मि होइ तदणो बेरो बेरेहिं डहरए डहरो ।

अहाओविच क्वं अणुयत्तइ जस्स जं सीलं ॥

२२. वह अगन्धनकुल-सर्प जैसा हो .

सर्प दो प्रकार के होते हैं :

१. गन्धन-कुल में उत्पन्न ।

२. अगन्धन-कुल में उत्पन्न ।

गन्धन जाति ले सर्प इस कर चले जाते हैं किन्तु मंत्रों से प्रेरित हो पुनः वहाँ आकर इसे हुए स्थान (व्रण) पर मुँह रखकर विष को चूस लेते हैं । अगन्धन जाति के सर्प मरना स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु वमन किए हुए विष को पुनः पीना स्वीकार नहीं करते । उसी प्रकार मुनि भी त्याज्य काम-भोगों को पुनः पीने वाला न हो ।^१

२३. वह हृद वनस्पति जैसा न हो .

हृद एक जलज वनस्पति है । उसकी जड़ नहीं होती । वायु के भोकों से वह इधर-उधर आती-जाती रहती है । जैसे वह अबद्ध-मूल और अस्थिर होती है, उसी प्रकार मुनि भी अबद्ध-मूल और अस्थिर न हो ।^२

१—जिनवास बूर्चि, पृ० ८७ ।

२—यही, पृ० ८९ :

हृदो नाम वनस्तद्वितेतो, सो बहत्तलागावितु छिन्नमूलो नवति, तथा वातेष
य जाइदो इमो य निजह ।

५-निक्षेप-पद्धति

निर्युक्ति में निक्षेप-कथन से व्याख्या की पद्धति मिलती है। नाम आदि विविधाओं से शब्दों के अर्थ का विस्तृत वर्णन मिलता है। उदाहरणस्वरूप 'दसवेआलियं' शब्द के आरम्भिक 'दस' शब्द का अर्थ-स्फोटन नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव—इन छह निक्षेपो से किया गया है।

नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे अ ।

एतो खलु निक्खेवो दसगस्स उ छव्विहो होइ ॥ ९ ॥

प्रथम अध्ययन 'दुमपुफिया' के 'दुम' शब्द की व्याख्या चार निक्षेपो से की गई है

नामदुमो ठवणदुमो इत्थदुमो चेव होइ भावदुमो ।

एमेव य पुप्फस्स वि खउव्विहो होइ निक्खेवो ॥ ३४ ॥

१. धर्म :

प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में 'धम्म' शब्द आया है। चार निक्षेपो के महारे इसकी व्याख्या निर्युक्ति में इस प्रकार मिलती है

नामं ठवणाधम्मो इत्थधम्मो अ भावधम्मो अ ।

एएसि नाणत्तं बुञ्जामि अहानुपुब्बीए ॥ ३९ ॥

इत्थं च अत्थिकायप्यपारधम्मो अ भावधम्मो अ ।

इत्थस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स इत्थस्स ॥ ४० ॥

धम्मत्थिकायधम्मो पपारधम्मो य विसयधम्मो य ।

लोइयकुप्पावयणिअ लोगुत्तर लोणज्जेगण्हो ॥ ४१ ॥

गम्मपसुवेसरज्जे पुरवरगामनगोठिराईणं ।

सावज्जो उ कुत्तिस्सियधम्मो न जिणेहि उ पत्तथो ॥ ४२ ॥

बुद्धिहो लोगुत्तरिजो सुअधम्मो खलु चरित्तधम्मो अ ।

सुअधम्मो सञ्जाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥ ४३ ॥

निक्षेप-शैली से अर्थ-कथन करने के कारण पर्यायवाची शब्द और भेदानुभेदों का विस्तृत वर्णन निर्युक्ति, चूर्ण और टीका में मिलता है।

इनके संकलन में तत्कालीन राज्य-व्यवस्था, सम्यता और विभिन्न आचारों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे—

- (१) गम्य-धर्म—विवाह सम्बन्धी आचार। दक्षिणापथ में मामे की लड़की के साथ विवाह किया जा सकता था, उत्तरापथ में नहीं।
- (२) पशु-धर्म—पशु का आचार। माता, भगिनी आदि भी उनके लिए गम्य होती थीं।
- (३) देश-धर्म—देश का आचार। दक्षिणापथ की वेष-भूषा भिन्न है और उत्तरापथ की भिन्न।
- (४) राज्य-धर्म—राज्य का आचार, लाट देश में कर भिन्न होता है और उत्तरापथ में भिन्न।
- (५) पुर-धर्म एवं ग्राम-धर्म—नगर एवं गाँव का आचार। गाँव में अकेली स्त्री भी इधर-उधर आ-जा सकती थी किन्तु नगर में अकेली स्त्री न आ-जा सकती थी, दूतग्री स्त्री के साथ ही जाती थी।
- (६) गण-धर्म—मन्त्र आदि गणतंत्र राज्यों की व्यवस्था। एक स्थान में सामूहिक रूप में पान करना उनका आचार था।
- (७) गोष्ठी-धर्म—समवयस्क व्यक्तियों का आचार। वे उत्सव आदि में सम्मिलित होकर रुचिकर भोजन आदि बनाते और सहभोजन करते।
- (८) राज-धर्म—राजा का आचार। दृष्ट का निग्रह और सज्जन का परिपालन-यह राज-धर्म है।

२. अर्थ (अर्थशास्त्र) :

संक्षेप में अर्थ (सम्पत्ति) छह प्रकार का होता है

- | | |
|------------|---------------|
| (१) धान्य | (४) द्विपद |
| (२) रत्न | (५) क्षुण्णपद |
| (३) स्थावर | (६) कुय |

इनमें स्थावर अचल-सम्पत्ति है और शेष सब चल-सम्पत्ति के प्रकार हैं। विस्तार में अर्थ (सम्पत्ति) ६४ प्रकार का है।

- | | |
|-------------|-----------|
| (१) धान्य— | २४ प्रकार |
| (२) रत्न— | २४ प्रकार |
| (३) स्थावर— | ३ प्रकार |

(४) द्विपद—	२ प्रकार
(५) चलुपद—	१० प्रकार
(६) कुव्य—	१ प्रकार

धान्य के २४ प्रकार^१ :

(१) जौ	(१३) अलसी
(२) गेहूं	(१४) काला चना
(३) शालि चावल	(१५) तिउडय ^२
(४) ब्रीहि-वन चावल	(१६) निष्पाव (गुजरात में इसे 'वाल' कहते हैं)
(५) साठी चावल	(१७) मोठ
(६) कोदो, कोदव	(१८) राजमाष-लोभिया, चोला
(७) अणुक ^३	(१९) इक्षु
(८) कांगणी	(२०) चोला
(९) रालक	(२१) रहर
(१०) तिल	(२२) कुलथी
(११) मूग	(२३) धनिया
(१२) उडद	(२४) मटर

चूणिकारद्वैक अनुसार 'मसूर' को मालवा आदि देशों में 'चोला' कहा जाता था^४ और वृत्तिकार ने राजमाष का अर्थ 'चोला' किया है^५ ।

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २५२, २५३ ।

२—देसीनाममाला (१।५२) में इसके दो अर्थ किए हैं—(१) जाकार और (२) धान्य-विशेष ।

३—यादवतहमहण्य (पृ० ५३७) में इसे देसी शब्द मानकर इसका अर्थ मालव-देश में प्रसिद्ध एक प्रकार का धान्य किया है ।

४—जिनबास चूर्णि, पृ० २१२ :

मसूरा मालववितयाविसु चवलगा ।

५—हारिद्वीय टीका, पत्र १९३ :

राजमाषाः—चवलकाः ।

रत्न के २४ प्रकार^१ :

(१) स्वर्ण	(६) वज्र	(१७) वस्त्र
(२) त्रपु—कलई	(१०) मणि	(१८) अमिला—ऊनी वस्त्र
(३) ताम्र	(११) मुक्ता	(१९) काष्ठ
(४) रजत—चाँदी	(१२) प्रवाल	(२०) चर्म—महिष, सिंह आदि का
(५) लोह	(१३) शंख	(२१) दन्त—हाथी दाँत आदि
(६) सीसा, रांगा	(१४) तिमिश ^२	(२२) बाल—चमरी गाय आदि के
(७) हिरण्य—रूपया	(१५) अगुरु	(२३) गन्ध—सौमन्धिक द्रव्य
(८) पाषाण विजातीयरत्न	(१६) चन्दन	(२४) द्रव्य—औषधि-पीपर आदि

स्थावर के तीन प्रकार^३ :

स्थावर—अचल-सम्पत्ति तीन प्रकार की होती है (१) भूमि, (२) गृह और (३) वृक्ष-ममूह ।

भूमि का अर्थ है—क्षेत्र । वे तीन प्रकार के होते हैं (१) सेतु, (२) केतु और (३) सेतु केतु ।

गृह तीन प्रकार के होते हैं^४ :

(१) खात—भूमिगृह, (२) उच्छिद्यत—प्रासाद और (३) खात-उच्छिद्यत—भूमिगृह के ऊपर प्रासाद ।

तल्लगण^५ नारियल, कदली आदि के आराम ।

१-हारिमन्त्रीय टीका, पत्र १९३ ।

२-बेखो, बेगीनाममाला, ५।११ :

इसके दो अर्थ हैं—तिमिश वृक्ष (गुजराती में तणछ) और मधु-पटल—मधुमक्खी का छत्ता ।

३-वृक्षकालिक निर्युक्ति, गाथा २५६ :

भूमी घरा य तल्लगण तिबिहं पुण थावरं मुणेअब्बं ।

४-जिनवास चूर्णि, पृ० २१२ :

घरं तिबिहं—खातं उस्सितं खाओसितं, तस्य खायं जहा भूमिघरं, उस्सितं जहा पासाओ, खातउस्सितं जहा भूमिघरस्स उवरि पासाओ ।

५-बही, पृ० २१२ :

तल्लगणा जहा नालिकेरिकदलीमायी ।

द्विपद के दो प्रकार^१ :

- (१) चक्रारबद्ध—दो पहियों से चलने वाले गाड़ी, रथ आदि ।
 (२) मनुष्य—दास, भूतक आदि ।

चतुष्पद के दस प्रकार^२ :

- | | |
|-----------------|------------------------------|
| (१) गो-जाति | (६) अश्व-जाति |
| (२) महिष-जाति | (७) अश्वतर-जाति ^३ |
| (३) उष्ट्र-जाति | (८) घोटक-जाति |
| (४) अज-जाति | (९) गर्दभ-जाति |
| (५) भेड़-जाति | (१०) हस्ति-जाति |

पक्षली या बाल्हीक आदि देशों में उत्पन्न जात्य हयो को 'अश्व' और अजात्य (सामान्य जातीय) हयो को 'घोटक' कहा जाता है ।^४

कुप्य :

प्रतिदिन घर के काम में आने वाली उपकरण-सामग्री—शयन, आसन, ताम्रकलश, घट आदि को 'कुप्य' कहा जाता है ।^५

१-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २५६ :

चक्रारबद्धमायुस कुबिहं पुण होइ कुपयं तु ॥

२-बही, गाथा २५७ :

गाबी महिसे उट्ठा अयएलगआसआसतरगा अ ।

घोडग गइह हत्पी अउपयं होइ बसहा उ ॥

३-जिनदास चूर्णि, पृ० २१३ :

असतरा नाम जे बिजातिजाया जहा महामहएण डीलबालियाए ।

४-(क) जिनदास चूर्णि, पृ० २१२-१३ :

आतो नाम जज्वत्सा जे पक्षलिविसयाबिसु मवंति...जे पुण अजबजाति-
जाता ते घोडगा मवंति ।

(ख) हारिमद्रीय टीका, पत्र १९४ :

अरबा—बाल्हीकाविशेषोत्पत्ता जात्याः...अजात्या घोटकाः ।

५-(क) जिनदास चूर्णि, पृ० २१३ :

कुबियं नाम बद्धबडिउहु'बगियं सयभासणमाययावि गिह्वित्तारो कुबियं
मण्णइ ।

(ख) हारिमद्रीय टीका, पत्र १९४ ।

३. अपाय :

अपाय का अर्थ है—परित्याग । वह चार प्रकार का है^१ : (१) द्रव्य अपाय, (२) क्षेत्र अपाय, (३) काल अपाय और (४) भाव अपाय ।

इनको समझाते हुए निर्युक्तिकाग्र ने अनेक दृष्टान्तों और ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत किया है । जैसे—

(१) द्रव्य अपाय^२ .

इसे 'दो भाई और नौली'—के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है ।^३ देखो—“दशवैकालिक चूर्णि की कथाएँ” कथा-संख्या १६ ।

(२) क्षेत्र अपाय^४

दशार्ह हरिवंश में उदाम्न राजा थे । कंस ने मथुरा का विध्वंस कर दिया । राजा जरासन्ध का भय बड़ा तब उस क्षेत्र को अपाय-बहुल जान कर दशार्ह वहाँ से चल कर द्वारवती आ गए ।^५

(३) काल अपाय :

एक बार कृष्ण ने भगवान् अरिष्टनेमि से पूछा—भगवन् ! द्वारवती का नाश कब होगा ? अरिष्टनेमि ने कहा—बारह वर्षों में द्रौपयन ऋषि के द्वारा इसका नाश होगा । द्रौपयन ऋषि ने जन-श्रुति से यह बात सुनी । “मुझ से नगरी का विनाश न हो,

१-हारिमद्रीय टीका, पत्र ३५ ।

२-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५५ ।

३-हारिमद्रीय टीका, पत्र ३५-३६ ।

४-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५६ :

क्षेत्समि अवक्कमणं बसारावणस्स होइ अबरेणं ।

५-हारिमद्रीय टीका, पत्र ३६ :

क्षित्तापाओबाहरणं बसारा हरिवंसरायाणो एत्थ महुई कहा जहा हरिवंसे ।

उबओमियं खेव मण्णए, कंसंमि बिणिवाइए साचायं क्षेत्तमेयंतिकाऊण जरासंध-
रायमएण बसारवणो महुराओ अवक्कमिऊण बारवई गओत्ति ।

इसलिए इस काल की अवधि में और कहीं चला जाऊँ"—यह सोच वे द्वारका को छोड़ उत्तरापथ में चले गए ।^१

(४) भाव अपाय :

इसे 'तुम्हे वन्दना कैसे करें'—इस दृष्टान्त से स्पष्ट किया है। देखो—“दशवैकालिक चूर्णि की कथाएँ”, कथा-संख्या १६ ।

४. उपाय^२ :

उपाय का अर्थ है—इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-विशेष । वह चार प्रकार है

(१) द्रव्य उपाय मोना निकालने और उसे शुद्ध रूप में प्राप्त करने का उपाय धातुवाद है ।^३

(२) क्षेत्र उपाय हल आदि क्षेत्र को तैयार करने का उपाय है ।^४ नौका से समुद्र के पूर्वी तट में पश्चिमी तट पर जाना ।^५

१-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५६ :

बीबायणो अ काले . . . ।

(ख) हारिमद्रीय टीका, पत्र ३६-३७ :

कण्टुच्छिण भगवया रिदुणेमिणा वागरियं—बारसहि संवच्छरेहि बीबाय-
णाओ बारवईणयरीविणासो, उज्जोततराए णगरीए परंपरणेण सुणिऊण
बीबायणपरिखायओ मा णगरि विणासेहामिति कालाबधिमण्णओ गमेमिति
उत्तरावहं गओ ।

२-(क) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६१ ६२ :

एमेव चउविगप्पो होइ उवाओ ऽवि तत्थ वब्भंमि ।

धातुब्बाओ पढमो नंगलकुलिहहि खेतं तु ॥

कालो अ नालियाइहि होइ भावंमि पंडिओ अमओ ।

चोरस्स कए नट्टि बड्ढकुमारिं यरिकहेइ ॥

(ख) हारिमद्रीय टीका, पत्र ४१, ४२ ।

३-हारिमद्रीय टीका, पत्र ४० :

द्रव्योपाये विचार्ये 'धातुबीदः' सुवर्णपातनोत्कर्षलक्षणो द्रव्योपायः ।

४-बही, पत्र ४० :

क्षेत्रोपायस्तु लङ्गलादिना क्षेत्रोपक्रमणे भवति ।

५-जिनबास चूर्णि, पृ० ४४ :

जहा नावाए पुब्बवेतालीओ अबरावेयालिं गम्माइ ।

(३) काल-उपाय—नालिका काल जानने का उपाय है ।

(४) भाव-उपाय—इसे दो उदाहरणों से स्पष्ट किया है—एक खंभे का प्रासाद (देखो दशवैकालिक चूर्ण की कथाएँ, कथा-संख्या १८) और दो विनय और विद्या (देखो वही, कथा-संख्या १९) ।

अपाय और उपाय के निक्षेपों में दिए हुए लोकोत्तर उदाहरणों से निर्युक्ति-काल, चूर्ण-काल और वृत्ति-काल में साधु-संघ की जो स्थिति थी, उसका यथार्थ चित्र हमें प्राप्त होता है ।

(१) द्रव्य-अपाय का लोकोत्तर रूप :

उत्सर्ग-विधि के अनुसार मुमुक्षु को अधिक द्रव्य (वस्त्र, पात्र आदि) तथा स्वर्ण आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए । किन्तु विशेष कारण उपस्थित होने पर चिर-दीक्षित साधु यदि उनका ग्रहण करे तो कारण समाप्त होते ही उनका अपाय—परित्याग कर दे ।^१

(२) क्षेत्र-अपाय का लोकोत्तर रूप :

मुनि जिस क्षेत्र में विहार करता हो, यदि वह क्षेत्र अशुभ आदि से आक्रान्त हो जाए तो मुनि उस क्षेत्र का अपाय कर दे ।^२

(३) काल-अपाय का लोकोत्तर रूप :

दुर्भिक्ष आदि की स्थिति उत्पन्न होने पर मुनि को वह समय अन्यत्र बिताना चाहिए, जहाँ दुर्भिक्ष आदि की स्थिति न हो ।^३

(४) भाव-अपाय का लोकोत्तर रूप :

मुनि क्रोध आदि का अपाय करे ।^४

१-हारिमञ्जरी टीका, पत्र ३९ :

इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा द्रव्यमेवाधिकं वस्त्रपात्राद्यन्यद्वा कनकादि न ग्राह्यं,
शिक्षकाहिसंविष्टाधिकारणगृहीतमपि तत्परित्यज्यात् ।

२-जिनवास चूर्णि, पृ० ४१ :

साधुणावि असिबावीहिं कारणेहिं खेताबाओ कायब्बो ।

३-वही, पृ० ४१ :

साधुणावि दुमिक्खत्तस्स अवातो असिबायं च कायब्बो, ण-उ अपुब्बे आगंतब्बं
भूत्ताए ।

४-हारिमञ्जरी टीका, पत्र ३९ :

क्रोधादयोऽग्रस्तमावास्तेषां विवेकः—नरकपातनाशपायहेतुत्वात्परित्यागः ।

(१) द्रव्य-उपाय का लोकोत्तर रूप :

(१) जैसे धातुवादिक उपाय से सोना बनाते हैं उसी प्रकार मुनि संचीय-प्रयोजन उत्पन्न होने पर योनि-प्राभृत आदि ग्रन्थ-निर्दिष्ट उपायों से सोना तैयार करे ।^१

(२), विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर विद्या-बल से ऐसा दृश्य उपस्थित करे, जिससे कठिन स्थिति उपशान्त हो जाए ।^२

निर्युक्तिकार ने उपाय के केवल चार विकल्प बतलाए हैं । उन्होंने जो उदाहरण दिए हैं वे सारे लौकिक हैं ।^३ लोकोत्तर विकल्पों की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की है । चूर्णिकार ने लोकोत्तर उपायों की चर्चा की है । वहाँ संघ-कार्य के लिए स्वर्ण-निर्माण और विद्या-प्रयोग का अपवाद स्वीकार किया है ।^४ वृत्तिकार ने लोकोत्तर उपायों की चर्चा की है किन्तु चूर्णिकार के इस (स्वर्ण-निर्माण) अभिप्राय को उन्होंने पराभिमत के रूप में उद्धृत किया है ।^५ उनके अनुसार द्रव्य-उपाय का लोकोत्तर रूप यह है— पटल (छाद्य से भरे हुए वस्त्र) आदि के प्रयोग से जल को प्रामुक् बनाना ।^६ चूर्ण का अपवाद वृत्तिकार को मान्य नहीं रहा और वृत्ति का अपवाद आज मान्य नहीं है । इसका निष्कर्ष यह है कि चूर्ण-काल में साधु-सच बड़ी कठिनाइयों से गुजर रहा था । उस परिस्थिति में अनेक विधि-विधान निमित्त हुए । आगम-काल में अहिंसा का स्थान सर्वोच्च था । उसके सामने संघ का स्थान गौण था, किन्तु इस मध्यकाल में संघ ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया । यौगिक सिद्धियों का प्रयोग भी मान्य होने लगा । वृत्ति-काल में कठिनाइयाँ भिन्न प्रकार की थी । इसलिए अपवाद भी भिन्न प्रकार के बने । आज दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ नहीं हैं ।

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ४४ :

बम्बोबायो जहा धातुबाइया उवाएण सुवण्णं करेत्ति, एवं तारिसे संघकज्जे समुप्पण्णे उवाएण जोणीपाहुडाइयं पडिणीयं आसयंति ।

२—बही, पृ० ४४ :

विजातिसएहि वा एरिसे इरिसेइ जेण उवसमेइ ।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६१-६२ ।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० ४४ ।

५—हारिमत्रीय टीका, पत्र ४० :

अन्ये तु योनिप्राभृतप्रयोगतः काश्चनपातनोत्कर्षलक्षणमेव संकृताप्रयोजनादौ द्रव्योपायं ध्यायन्ते ।

६—बही, पत्र ४० :

लोकोत्तरे त्वध्वाद्वा पटलादिप्रयोगतः प्रामुकोदककरणम् ।

(२) क्षेत्र-उपाय का लोकोत्तर रूप :

विद्या-बल से दुर्गम मार्ग को पार करना ।^१ वृत्तिकार के अनुसार वह इस प्रकार है—आहार के लिए पर्यटन कर तदुपयुक्त क्षेत्र की एषणा करना ।^२ यहाँ भी वृत्तिकार ने चूर्णिकार के अभिप्राय को पराभिमत के रूप में उद्धृत किया है ।^३

(३) काल-उपाय का लोकोत्तर रूप

सूत्र के परिवर्तन से काल को जानना ।^४

(४) भाव-उपाय का लोकोत्तर रूप

आचार्य शंख की उपस्थापना देने से पूर्व उसके मानसिक भावों को अच्छी तरह से जान ले और यह निर्णय करे कि—“यह प्रवाजनीय है या नहीं ? प्रवृजित करने पर भी यह मुण्डित करने योग्य है या नहीं ?”^५

५. आचार :

आचार का अर्थ है—भिन्न-भिन्न रूपों में परिणमन । जो द्रव्य विवक्षित रूपों में परिणत हो सकता है, उसे आचारवान् और जो परिणत नहीं हो सकता हो, उसे अनाचारवान् कहा जाता है ।^६

१—जिनबास चूर्णि, पृ० ४४ :

विज्ञाज्ञास्तएहि अद्याणादसु नित्यरियव्यं ।

२—हारिमन्नीय टीका, पत्र ४० :

लोकोत्तरस्तु विधिना प्रातररानाद्यर्थमटनादिना क्षेत्रभावन्म् ।

३—वही, पत्र ४० :

अग्रे तु “विद्याविमिश्र बुस्तराध्वतरणलक्षणं क्षेत्रोपायमिति ।

४—वही, पत्र ४० :

लोकोत्तरस्तु सूत्रपरावर्तनाविमिस्तथा भवति ।

५—वही, पत्र ४२ :

एवमिहवि सेहानुबद्धायंतयाणं उवाएण गीअत्थेण विपरिणामादिना भावो जाविअब्बोत्ति, किं एए पब्बाविणिज्जा नवत्ति, पब्बाविएसुवि तेसु सुंवावणादसु एतेव विमासा ।

६—वही, पत्र १०१ :

आचरणं आचारः द्रव्यस्याचारो द्रव्याचारः, द्रव्यस्य यदाचरणं तेन तेन प्रकारेण परिणमनमित्यर्थः ।

आचार चार प्रकार का है^१—

- (१) नाम-आचार—जिसका नाम 'आचार' हो ।
- (२) स्थापना-आचार—जिस सचेतन या अचेतन वस्तु में 'आचार' का आरोप किया गया हो ।
- (३) द्रव्य-आचार—यह छ प्रकार का है ।
- (४) भावाचार—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य के भेद से पाँच प्रकार का होता है ।

द्रव्य-आचार के छह प्रकार^२ :

(१) नामन ·

भुक्ने की दृष्टि से—तिनिश आचारवान् होता है । एरण्ड अनाचारवान् होता है, वह भुक्ता नहीं टूट जाता है ।

(२) धावन ·

घोने को दृष्टि से—हल्दिया रंग का कपड़ा आचारवान् होता है । घोने से उसका रंग उतर जाता है । कृमिराग से रंगा हुआ कपड़ा अनाचारवान् होता है । घोने से उसका रंग नहीं उतरता ।

(३) वासन ·

वासन की दृष्टि से—इंट, खपरैल आदि आचारवान् होते हैं—उन्हें पाटल आदि फूलों से वासित किया जा सकता है । वज्र अनाचारवान् होता है, उसे सुवासित नहीं किया जा सकता ।^३

१-हारिमत्रीय टीका, पत्र १०१ :

आचारस्य तु क्षतुको निशेषः, स चायम्—नामाचारः स्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च ।

२-वही, पत्र १०१ :

द्रव्याचारमाह—नामनधावनवासनशिक्षापनसुकरणादिरोधीनि द्रव्याणि यानि लोके तानि द्रव्याचारं विजानीहि ।

३-(क) वही, पत्र १०१ :

वासनं प्रति क्वेतुकाद्याचारवत् सुखेन पाटलाकुसुमादिभिर्वास्यमानत्वात्, वैदूर्याद्यनाचारवत् अशक्यत्वात् ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ६४ :

आयारमंतीओ क्वेल्लुगाओ इहुगाओ वा, अणायारमन्तं वहरं, तं न सक्कं वासेहं ।

(४) शिक्षापण :

शिक्षण की दृष्टि से तोता और मैना आचारवान् होते हैं—उन्हें मनुष्य की बोली सिखाई जा सकती है। कोए आदि अनाचारवान् होते हैं—उन्हें मनुष्य की बोली नहीं सिखाई जा सकती।

(५) सुकरण :

सरलता से करने की दृष्टि में सोना आचारवान् होता है, उसे गला-तपाकर सरलता से अनेक प्रकार के आभूषण बनाए जा सकते हैं। घंटा-लोह आचारवान् नहीं होता है, उसे तोड़कर उसकी दूसरी वस्तु नहीं बनाई जा सकती।

(६) अविरोध

अविरोध की दृष्टि से गुड और दही आचारवान् होते हैं—उनका योग रसोत्कर्ष पैदा करता है। तेरू और दूब अनाचारवान् होते हैं, उनका योग रोग उत्पन्न करता है।

६. पद :

(१) जिसमें चला जाता है, उसे 'पद' कहते हैं, जैसे—हस्ति-पद, व्याघ्र-पद, सिंह पद आदि-आदि।^१

(२) जिसमें कुछ निष्पन्न किया जाता है, उसे 'पद'-कहते हैं, जैसे—नख-पद, परण-पद आदि-आदि।^२

पद चार प्रकार का होता है^३ :

(१) नाम-पद—जिसका 'पद' नाम हो।

(२) स्थापन-पद—जिम सचेतन या अचेतन वस्तु में 'पद' का आरोप किया गया हो।

(३) द्रव्य-पद।

(४) भाव-पद।

१-जिनवास कूर्मि, पृ० ७६ :

गमन्ति जेवन्ति तं पदं भण्णइ, जहा हस्तिपदं कम्पपदं सीहपदं एवमादि।

२-वही, पृ० ७६ :

पदं नाम जेण निव्वत्तिज्जइ तं पदं भण्णइ, जहा नहपदं परसुपदं वासिपदं।

३-ब्रह्मकालिक निरुक्ति, गाथा १६६ :

नामपदं ठक्कपय वक्कपयं खेव होइ नामपयं।

एक्केक्कपिय एत्तो जेगविहं होइ नायणं॥

वच्य-पद के स्यारह प्रकार^१—

(१) आकोट्टिम-पद—

जैसे—रूपया । यह दोनों ओर से मुद्रित होता है ।

(२) उत्कीर्ण-पद—

जैसे—ग्रस्तर में नाम उत्कीर्ण होता है अथवा कांस्य-पात्र उत्कीर्ण होता है ।

(३) उपनेय-पद—

जैसे—बकुल आदि के आकार के मिट्टी के फूल बनाकर उन्हें पकाते हैं, फिर गरम कर उनमें मोम डाला जाता है । उससे वे मोम के फूल बन जाते हैं ।^२

(४) पीडित-पद—

जैसे—पुस्तक को वेष्टित कर रखा जाता है तब उसमें भंगावलियाँ उठ जाती हैं ।

(५) रंग-पद—

जैसे—रंगने पर कपड़ा विचित्र रूप का हो जाता है ।

(६) ग्रथित-पद—

जैसे—गूंथी हुई माला ।

(७) वेष्टिम-पद—

जैसे—गुप्पमय मुकुट । आनन्दपुर में ऐसे मुकुट बनाए जाते थे ।^३

(८) पूरिम-पद—

जैसे—जैत की कुण्डी बनाकर वह फूलों में भरी जाती है । उसमें अनेक छिद्र होते हैं ।^४

१-दशवैकालिक निर्घृष्टि, गाथा १६७ :

आउट्टिमउक्किलं उण्णोअं पील्लिमं च रंअं च ।

गंघिमवेडिमपूरिम बाइमसंघाइमण्णोअं ॥

२-हारिमव्रीय टीका, पत्र ८७ :

तथा बउत्ताविपुक्कसंठाणाणि विविक्कल्लमवपडिक्खिअणाणि काउं पण्णांति, तन्नो तेसु अण्वारित्ता मयअं छुअमति, तन्नो मयअमवा पुक्का हवन्ति ।

३-जिनवास चूर्णि, पृ० ७६ :

वेडियं अहा आणंअपुरे पुक्कमया अउडा कीरंति ।

४-अही, पृ० ७६ :

पूरिमं वित्तमयी कुंडिया करित्ता सा पुक्काणं मरिअइ, तस्य छिद्रा मयंति एअं पूरिमं ।

(६) वातव्य-पद—

जैसे—बन्ध निर्मित अस्त्र आदि ।

(१०) संघात्य-पद—

जैसे—स्त्रियों की कबुलियाँ अनेक वस्त्रों के जोड़ से बनती हैं ।

(११) छेद-पद—

जैसे—अत्र-पटल ।

भाव-पद दो प्रकार का होता है^१

(१) अपराध-पद ।

(२) नो-अपराध-पद ।

अपराध-पद छह प्रकार का होता है^२—

(१) इन्द्रिय, (२) विषय, (३) कषाय, (४) परीषद्, (५) वेदना, (६) उपसर्ग ।

ये मोक्ष-मार्ग के विघ्न हैं, इसलिए इन्हें अपराध-पद कहा गया है ।

नो-अपराध-पद दो प्रकार का होता है

(१) मातृका-पद—मातृका अक्षर अथवा त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ।

(२) नो मातृका-पद —नो-मातृका-पद दो प्रकार का होता है ।

(१) ग्रथित-रचनाबद्ध ।

(२) प्रकीर्णक-कथा, मुक्तक^३ ।

ग्रथित-पद चार प्रकार का होता है^४

(१) गद्य

(२) पद्य

(३) गेय

(४) कौण

गद्य

जो मधुर होता है—सूत्र मधुर, अर्थ मधुर और अभिधान मधुर—इस प्रकार तीन रूपों में मधुर होता है, जो सहेतुक होता है, जो सिलसिलेवार ग्रथित—रचित होता है, जो

१—जिनदास चर्मि, पृ० ७७ ।

२—वसवैकालिक निर्युक्ति, भाषा १७५ ।

३—वही, पृ० ७७ :

यतिष्णयं नाम ओ पद्म्या कहा कीरइ सं पद्म्ययं मज्जइ ।

४—वही, भाषा १७० :

मज्जं पज्जं मेयं पुणं च अउज्झिहं तु महियययं ।

अपाद—चरण-रहित होता है, जो बिराम-सहित होता है—पाठ के नहीं किन्तु अर्ध के बिराम से युक्त होता है (जैसे—“जिणवरपादारविदसदाणिउरुणिम्महसहम्सा।” इस पूरे वाक्य को समान किए बिना बिराम नहीं लिया जा सकता। जो अन्त में अपरिमित—बृहद् होता है और अन्त में जिसका मृदु-पाठ होता है, उसे गद्य कहते हैं।^१

पद्य ·

यह तीन प्रकार का होता है—

(१) सम ·

जिसके पाद—चरण तथा अक्षर सम हो, उसे सम कहते हैं। कई यह भी मानते हैं कि जिसके चारों चरणों में समान अक्षर हो, उसे सम कहा जाता है।

(२) अर्धसम

जिसके पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणों के अक्षर समान हो, उसे अर्ध-सम कहते हैं।

(३) विषम

जिसके सभी चरणों में अक्षर विषम हो, उसे विषम कहते हैं।

गेय

जो गाया जाता है उसे गेय (गीत) कहते हैं। वह पाँच प्रकार का होता है^२—

(१) तंत्रीसम—जो वीणा आदि तंत्री के शब्दों के साथ-साथ गाया जाता है, उसे तंत्रीसम कहते हैं।

(२) तालसम—जो ताल के साथ-साथ गाया जाता है, उसे तालसम कहते हैं।^३

१-दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १७१ :

महुरं हेउनिजुत्तं गहियमपायं बिरामसंजुत्तं ।

अपरिमियं षड्वसाणे कब्बं गज्जं ति नायब्बं ॥

२-बही, गाथा १७२ :

पज्जं तु होइ तिविहं सममदसमं च नाम बिसमं च ।

पाएहि अक्खरेहि य एवं बिहिण्णू कई वेत्ति ॥

३-बही, गाथा १७३ :

(क) तंतिसमं तालसमं वण्णसमं गहसमं लम्पसमं च ।

कब्बं तु होइ गेय पंजबिहं गीयसन्नाए ॥

(ख) हारिमन्नीय टीका, पत्र ८८ ।

४-धूर्णि में यहाँ व्यत्यय है। बहाँ तंत्रीसम, वर्णसम, तालसम आदि यह क्रम हैं।

देखो—जिनवास धूर्णि, पृ० ७७ ।

(३) वर्णसम—ऋचभ, निषाद, पंचम आदि वर्ण कहलाते हैं। जो इनके साथ-साथ गाया जाता है, उसे वर्णसम कहते हैं।

(४) ग्रहसम—ग्रह का अर्थ है उत्क्षेप। (कई इसे प्रारम्भ-रस विशेष भी मानते हैं) जो उत्क्षेप के साथ-साथ गाया जाता है, उसे ग्रहसम कहते हैं।

(५) लयसम—तंत्री की विशेष प्रकार की ध्वनि को 'लय' कहते हैं। जो लय के साथ-साथ गाया जाता है, उसे लयसम कहते हैं।

बंध-शलाका से तंत्री का स्पर्श किया जाता है और नखों से तार को दबाया जाता है, तब जो एक भिन्न प्रकार का स्वर उठता है, उसे 'लय' कहते हैं।

चोर्ण^१ :

जो अर्थ बहुल हो—जिसके बहुत अर्थ हो, जो महान् अर्थ वाला हो - हेय और उपादेय का प्रतिपादन करने वाले तथ्यों से युक्त हो, जो हेतु—निपात और उपसर्ग से युक्त होने के कारण गंभीर हो, जो बहुपाद हो—जिमके चरणों का कोई निश्चित परिमाण न हो, जो अव्यवच्छिन्न हो—विराम-रहित हो, जो गम-शुद्ध हो—जिसमें सदृश अक्षर वाले वाक्य हों और जो नय-शुद्ध हो—जिसका अर्थ नंगम आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रतिपादित हो, उसे 'चोर्ण-पद' कहते हैं। ब्रह्मचर्य अध्ययन (आचारंग प्रथम श्रुतस्कन्ध) चोर्ण पद है।^२

७. काय :

काय अनेक प्रकार का होता है^३—

(१) नाम-काय—जिसका नाम 'काय' हो।

(२) स्थापना-काय—जिस मचेतन या अचेतन वस्तु में 'काय' का आरोप किया गया हो उसे स्थापना-काय कहते हैं।

१—ब्रह्मकालिक निर्युक्ति, गाथा १७४ :

अव्यवच्छिन्नं महत्त्वं हेतुनिवाभोवसगमंसीरं।

बहुपादमवोच्छिन्नं समन्यसुखं च पुण्यपयं ॥

२—हारिमन्त्रीय टीका, पत्र ८८ :

चोर्णं पदं ब्रह्मचर्याध्ययनपदवदिति।

३—(क) वही निर्युक्ति, गाथा २२८ :

नामं ठवगसरीरे नई निकायत्पिकाय वनिए य।

माउगपउजवसंगहमारै तह मावकाए य ॥

(ख) हारिमन्त्रीय टीका, पत्र १३४, १३५।

(३) शरीर-काय—शरीर स्वप्रायोम्य अणुओं का संघात होने के कारण शरीर-काय कहलाता है ।

(४) गति-काय—जिन शरीरों से भवान्तर में जाया जाता है अथवा जिस गति में जो शरीर होते हैं, उन्हें गति-काय कहते हैं ।

(५) निकाय-काय—षड्जीवनिकाय—पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस को निकाय-काय कहते हैं ।

(६) अस्ति-काय—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्ति-काय हैं ।

(७) द्रव्य-काय—तीन आदि द्रव्य एकत्र हों उन्हें द्रव्य-काय कहा जाता है, जैसे—तीन घट, तीन पट आदि-आदि ।

(८) मातृका-काय—तीन आदि मातृका अक्षरो को मातृका-काय कहते हैं ।

(९) पर्याय-काय—यह दो प्रकार का होता है—

(क) जीवपर्याय-काय—जीव के तीन आदि पर्यायों को जीवपर्याय-काय कहते हैं । जैसे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि ।

(ख) अजीवपर्याय-काय—अजीव के तीन आदि पर्यायों को अजीवपर्याय-काय कहते हैं । जैसे—रूप, रस, गन्ध आदि-आदि ।

(१०) संग्रह-काय—तीन आदि द्रव्य एक शब्द से संगृहीत होते हैं, उसे 'संग्रहकाय' कहते हैं । जैसे—त्रिकूट—सोठ, पीपल और कालीमिर्च । त्रिफला—हरडे, बहेडा और आंबला ।

अथवा चावल आदि की राशि को भी 'संग्रहकाय' कहते हैं ।

(११) भार-काय—वृत्तिकार ने इसका अर्थ कौबर किया है । चूर्णिकार ने इसका अर्थ विस्तार से किया है—

“एक कहार तालाब से दो घड़े पानी से भर, उन्हें अपनी कौबर में रख घर आ रहा था । एक ही अप्काय दो भागों में विभक्त हुआ था । उसका पैर फिसला, एक घड़ा फूट गया । उसमें जो अप्काय था, वह मर गया । दूसरे घड़े में जो अप्काय था, वह जीवित रहा । कौबर में अब एक ही घड़ा रह गया । संतुलन के अभाव में वह भी फूट गया । इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह पहले जो अप्काय मरा था, उसी ने दूसरे घड़े के अप्काय को मार डाला ।”

प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा जा सकता है—

“एक घड़े में अप्काय भरा था, उसे दो भागों में विभक्त कर एक भाग को गर्म किया गया । वह मर गया । जो गर्म नहीं किया गया था, वह जीवित रहा । गर्म पानी उसमें मिला दिया गया । वह निर्जीव हो गया । इसलिए कहा जा सकता है कि मृत

अपकाय ने जीवित अपकाय को मार डाला ।" इसी को पहली की भाषा में कहा गया है—

एगोकाओ दुहा जाओ, एगो बिट्ठइ मारिओ ।

जीबंतो भएण मारिओ, तल्लव माणव । केण हेउणा ॥

अर्थात् एक काय था । वह दो में बंट गया । एक जीवित रहा, एक मर गया । जो मरा उसने जीवित को मार डाला । कहो यह कैसे हुआ ?

(१२) भाव-काय—कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा परिणमन से होने वाली अवस्थाएँ ।'

५-निरुक्त

निरुक्त का अर्थ है—शब्दों की व्युत्पत्ति-परक व्याख्या। इस पद्धति में शब्द का मूल-स्पर्शी अर्थ ज्ञात हो सकता है। आगम के व्याख्यात्मक साहित्य में इस पद्धति से शब्दों पर बहुत विचार हुआ है। उनकी छानबीन से शब्द की वास्तविक प्रकृति को समझने में बहुत सहारा मिलता है और अर्थ भी सही रूप में पकड़ा जाता है। जिनदाम चूर्णि में अनेक निरुक्त दिए गए हैं। उनका सकलन शब्द-बोध में सहायक है। कुछ निरुक्त ये हैं

दुम—

दुमा नाम भूमीय आगामे य दोम माया दमा ।^१

पाद१—

पादेहि पिबतीति पादपा ।^२

रक्ख—

रुति पुहवी खत्ति आगास तेमु दोमुवि जहा टिया तेण रक्खा ।^३

विडिम

विडिमाणि जेण अत्थि तेण विडिमा ।^४

अगम—

ण गच्छतीति अगमा ।^५

तरख—

णदीतलागादीणि तेहि तरिजति तेण तरबो ।

कुह—

कुत्ति पिपिबी तोण धारिज्जति तेण कुहा ।^६

महीरुह—

महीण जेण रुहति तेण महीरुहा ।^७

१-जिनवास चूर्णि, पृ० १० ।

२-बही, पृ० १० ।

३-बही, पृ० ११ ।

४-बही, पृ० ११ ।

५-जिनवास चूर्णि, पृ० ११ ।

६-बही, पृ० ११ ।

७-बही, पृ० ११ ।

८-बही, पृ० ११ ।

वच्छा :

पुत्तणेहेणवा परिगिज्जंति तेण वच्छा ।^१

रोवग :

रुपंति जम्हा तेण रोवगा ।^२

मंगल :

मंगं नारकादिषु पवडंतं सो लाति मंगलं, लाति गेप्पइति वुत्तं भवति ।^३

तव :

तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठि, नासेतित्ति वुत्तं भवइ ।^४

देव :

देवा णाम दीवं आगासं तंमि आगासे जे वसंति ते देवा ।^५

अणसण :

अणसणं नाम जं न असिज्जइ अणसणं, णो आहारिज्जइति वुत्तं भवति ।^६

पाओगमण :

पाओवगमणं इंगिणिमरणं भत्तपच्चक्खाणं च, तत्थ पाओवगमणं णाम जो निप्पडि-
कम्मो पादउव्व जओ पडिओ तओ पडिओ चेव ।^७

नाय :

नज्जंति अणेण अत्था तेण नायं ।^८

आहरण :

आहरिज्जंति अणेण अत्था तेण आहरणं ।^९

दिट्ठंत :

दीसंति अणेण अत्था तेण दिट्ठंतो ।^{१०}

ओवम्म :

उवमिज्जंति अणेण अत्था तेण ओवम्मं ।^{११}

नियदिसण :

वरिसिंति अणेण अत्था तेण निदरिसणं ।^{१२}

१-जिनवास चूर्णि, पृ० ११ ।

२-बही, पृ० ११ ।

३-बही, पृ० १५ ।

४-बही, पृ० १५ ।

५-बही, पृ० १५ ।

६-बही, पृ० २१ ।

७-बही पृ० २१ ।

८-बही, पृ० ३९ ।

९-बही, पृ० ३९ ।

१०-बही, पृ० ३९-४० ।

११-बही, पृ० ४० ।

१२-बही, पृ० ४० ।

भ्रमर :

भ्राम्यति च रोति च भ्रमर ।^१

विहंगम :

विहंगमन्तीति विहंगमा ।^२

पव्वइय :

पव्वइयो णाम पापाद्विरतो प्रव्रजितः ।^३

अणगार :

अणगारा नाम अगारं—गृहं तद् यस्य नास्ति सः अनगारः ।^४

पासंडी :

अट्टविहाओ कम्मपासओ डीणो पासंडी ।^५

चरग :

तवं चरतीति चरगो ।^६

तावसो :

तवे ठिओ तावसो ।^७

भिक्खू :

भिक्खणसीलो भिक्खू ।^८

परिव्वायओ :

सव्वसो पावं परिवज्जयंतो परिव्वायओ भण्णइ ।^९

निगंगंधो :

बाहिरंभंतरेहिं गंधेहिं निमाओ निमांधो ।^{१०}

संयतो :

सव्वप्यगारेण अहिंसाइएहिं जतो संजतो ।^{११}

मुत्त :

मुत्तो बाहिरंभंतरंगंधेहिं ।^{१२}

१-जिनवास क्षुणि, पृ० ६२ ।

७-बही, पृ० ७३ ।

२-बही, पृ० ६६ ।

८-बही, पृ० ७३ ।

३-बही, पृ० ७३ ।

९-बही, पृ० ७४ ।

४-बही, पृ० ७३ ।

१०-बही, पृ० ७४ ।

५-बही, पृ० ७३ ।

११-बही, पृ० ७४ ।

६-बही, पृ० ७३ ।

१२-बही, पृ० ७४ ।

तिण ताती :

जम्हा य संसारसमुद्दं तरंति तरिस्सति वा तम्हा तिण्णो ताती ।^१

नेय :

जम्हा अण्णेवि भविण्णि सिद्धिमह, पट्टगं अविग्गपहेण नयइ तम्हा नेया ।^२

मुणि :

सावज्जेसु मोणं सेवतित्ति मुणी ।^३

खंतो :

खमतीति खंतो ।^४

दंतो :

इदियकसाए दमतीति दंतो ।^५

विरतो :

पाणवधादीहि आसवदारेहिं न बट्ठइत्ति विरतो ।^६

लूही :

अतपंतेहि लूहेहिं जीवेइत्ति लूही अवा कोहमाणा दो णेहो भण्णइ, तेसु रहितेसु लूहे ।^७

तीरट्ठी :

संसारसागरस्स तीरं अत्ययतित्ति वा ममाइत्ति वा एगट्ठा तीरट्ठी ।^८

तायिणो :

तायंतीति तायिणो ।^९

महव्वयं :

महंतं वत्तं महव्वयं ।^{१०}

सिला :

सिला नाम विच्छिण्णो जो पाहाणो स सिला ।^{११}

सत्थ :

सा सिज्जइ जेण तं सत्थं ।^{१२}

१-जिनवास खूणि, पृ० ७४ ।

२-बही, पृ० ७४ ।

३-बही, पृ० ७४ ।

४-बही, पृ० ७४ ।

५-बही, पृ० ७४ ।

६-बही, पृ० ७४ ।

७-बही, पृ० ७४ ।

८-बही, पृ० ७४ ।

९-बही, पृ० १७७ ।

१०-बही, पृ० १४४ ।

११-बही, पृ० १४४ ।

१२-बही, पृ० २२४ ।

हव्ववाहो ·

हव्वं वहतीति हव्ववाहो ।^१

सावज्ज

सहवज्जेण सावज्जं ।^२

वाक्य :

वाच्यते इति वाक्यं ।^३

गिरा

गिज्जतीति गिरा ।^४

सरस्सति ·

सरो जीसे अत्थि सा सरस्सति ।^५

भारही ·

भारो णाम अत्थो, तमत्थं धारयतीति भारही ।^६

गो ·

पुरच्छिद्धान्तो लोगताओ पच्चत्थिमिल्लं लोगंतं गच्छतीति गो ।^७

वाणी

वदिज्जते वयणिज्जा वा वाणी ।^८

भापा ·

भणिज्जतीति भासा ।^९

पणवणी

पणविज्जती जीण सा पणवणी ।^{१०}

देसणा ·

अत्थं देसयतीति देसणा ।^{११}

जोग :

वायापरिणामेण जीवस्स जोगो तेण कट्ठुगफल्सादिपरिणामजोयणं जोगो ।^{१२}

१-जिनहास ऋणि, पृ० २२५ ।

२-वही, पृ० २२५ ।

३-वही, पृ० २३४ ।

४-वही, पृ० २३४ ।

५-वही, पृ० २३४ ।

६-वही, पृ० २३४ ।

७-वही, पृ० २३४-२३५ ।

८-वही, पृ० २३५ ।

९-वही, पृ० २३५ ।

१०-वही, पृ० २३५ ।

११-वही, पृ० २३५ ।

१२-वही, पृ० २३५ ।

पिसुण :

पीतिसुणं करोतीति पिसुणो ।^१

खवण :

अणं कम्मं भण्णइ, जम्हा अणं खवयइ तम्हा खवणो भण्णइ ।^२

१-जिनवात बुद्धि, पृ० ३१६ ।

२-वही, पृ० ३३४ ।

६-एकार्थक

आगमों में तथा उनके व्याख्या-ग्रन्थों में एकार्थक शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। प्रथम दृष्टि में वे कुछ सार-हीन से लगते हैं परन्तु जब उनके अंतस्तल तक पहुँचा जाता है तब यह ज्ञात होता है कि यह पद्धति ज्ञान-वृद्धि में बहुत ही सहायक रही है। इस पद्धति के माध्यम से विद्यार्थियों को कोष कण्ठस्थ करा दिया जाता था। एकार्थक शब्द संकलना का यह भी प्रयोजन था कि गुरु के पास अनेक देशीय शिष्य पढ़ते थे उनको अपनी-अपनी भाषा में व्यवहृत शब्दों के माध्यम से सहज ज्ञान कराया जा सके, इसलिए नाना देशीय शब्दों को एकार्थक कहकर संकलन कर दिया जाता था। इसे शब्द-कोष के निर्माण का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। नीचे एकार्थक शब्दों की तालिका दी जा रही है :

पज्जवोत्ति वा भेदोत्ति वा गुणोत्ति वा एगट्ठा ।^१

णाणंति वा संवेदणंति वा अधिगमोत्ति वा चेतणंति वा भावन्ति वा एते सदा एगट्ठा ।^२

अहिंसा वा अज्जीवाइवातोत्ति वा पाणात्तिमातविरइत्ति वा एगट्ठा ।^३

अवड्ढंति वा अद्धंति वा एगट्ठा ।^४

आलोयणंति वा पमासकरणंति वा अक्खणंति वा विमोहिंति वा एगट्ठा ।^५

मइत्ति वा मुत्ति (सइ) त्ति वा सण्णंति वा आभिणिबोहियणाणंति वा एगट्ठा ।^६

परिज्झंति वा पत्थणंति वा गिद्धित्ति वा अभिलासोत्ति वा लेप्पंति वा कंळंति वा एगट्ठा ।^७

विउत्सस्सोत्ति वा विवेगोत्ति वा अधिकिरणंति वा छड्डणंति वा वोत्तिरणंति वा एगट्ठा ।^८

चेयणंति वा उवयोगोत्ति वा अक्खरंति वा एगट्ठा ।^९

अपिबत्ति आदियत्ति एगट्ठा ।^{१०}

अत्ययत्ति वा ममाइत्ति वा एगट्ठा ।^{११}

अयाहिंति वा छड्डेहिंति वा जहाहिंति वा एगट्ठा ।^{१२}

१-जिनवास वृत्ति, पृ० ४ ।

७-बही, पृ० ३० ।

२-बही, पृ० १० ।

८-बही, ,, ३७ ।

३-बही, ,, २० ।

९-बही, ,, ४६ ।

४-बही, ,, २२ ।

१०-बही, ,, ६३ ।

५-बही, ,, २५ ।

११-बही, ,, ७४ ।

६-बही, ,, २९ ।

१२-बही, ,, ८६ ।

- आययति वा तं तं भावं गच्छति वा आयरति वा एगट्वा ।^१
 वीरति वा सूरति वा एगट्वा ।^२
 नाणंति वा उवयोगेति वा एगट्वा ।^३
 कसायओति वा भावोति वा परियाओति वा एगट्वा ।^४
 ऊसढंति वा उच्चंति वा एगट्वा ।^५
 भद्गंति वा कल्लाणंति वा सोभणंति वा एगट्वा ।^६
 पियत्ति वा आपियइति वा एगट्वा ।^७
 तवस्सीति वा साहुत्ति वा एगट्वा ।^८
 अणंति वा रिणंति वा एगट्वा ।^९
 अभिलसंति वा पत्थयंति वा कामयंति वा अभिप्पयंति वा एगट्वा ।^{१०}
 विच्छिन्नंति वा अणंतंति वा विउलंति वा एगट्वा ।^{११}
 बीयंति वा पड्डाणंति वा मूलंति वा एगट्वा ।^{१२}
 समुत्सयोति वा रासिति वा एगट्वा ।^{१३}
 वुत्तंति वा भणितंति वा धारयंति वा संजमंति वा निमित्तंति वा एगट्वा ।^{१४}
 वण्णियंति वा देसियंति वा एगट्वा ।^{१५}
 वज्जंति वेरंति वा परति वा एगट्वा ।^{१६}
 पाणाणि वा भूयाणि वा एगट्वा ।^{१७}
 मग्गणंति वा पियकरणंति वा विवेयणंति वा विजओति वा एगट्वा ।^{१८}
 सिणाणंति वा ष्हाणंति वा एगट्वा ।^{१९}
 छट्ठिउति वा जओति वा एगट्वा ।^{२०}

- | | |
|---------------------------|-------------------|
| १-जिनवास कूर्णि, पृ० ९४ । | ११-बही, पृ० २१५ । |
| ३-बही, पृ० ११६ । | १२-बही, ,, २१९ । |
| ३-बही, ,, १२० । | १३-बही, ,, २१९ । |
| ४-बही, ,, १२१ । | १४-बही, ,, २२१ । |
| ५-बही, ,, १९९ । | १५-बही, ,, २२२ । |
| ६-बही, ,, २०१ । | १६-बही, ,, २२५ । |
| ७-बही, ,, २०२ । | १७-बही, ,, २२६ । |
| ८-बही, ,, २०३ । | १८-बही, ,, २२९ । |
| ९-बही, ,, २०४ । | १९-बही, ,, २३१ । |
| १०-बही, ,, २१५ । | २०-बही, ,, २३१ । |

- उष्णिकावर्णन्ति वा क्लावर्णन्ति वा एगट्टा ।^१
 चिक्कणन्ति वा दारुणन्ति वा एगट्टा ।^२
 मन्नन्ति वा जाणन्ति वा एगट्टा ।^३
 उर्वन्ति वा वर्यन्ति वा एगट्टा ।^४
 लंगलन्ति वा हलन्ति वा एगट्टा ।^५
 बहुवेत्ति वा अणेमेत्ति वा एगट्टा ।^६
 मुणित्ति वा णाणित्ति वा एगट्टा ।^७
 परिज्जभासित्ति वा परिकखभासित्ति वा एगट्टा ।^८
 गुणोत्ति वा पज्जतोत्ति वा एगट्टा ।^९
 आदियत्ति वा गेण्हित्ति वा तेसि दोसाणं आयरणन्ति वा एगट्टा ।^{१०}
 भणियन्ति वा वुत्तन्ति वा एगट्टा ।^{११}
 पेमन्ति वा रागोत्ति वा एगट्टा ।^{१२}
 दारुणसद्धो कक्कससद्धो विय एगट्टा ।^{१३}
 अणुत्तरन्ति अणुत्तमन्ति वा एगट्टा ।^{१४}
 विणिच्छओत्ति वा अवितहभावोत्ति वा एगट्टा ।^{१५}
 वियंजितन्ति वा तत्त्वंति वा एगट्टा ।^{१६}
 अत्तवन्ति वा विन्नवन्ति वा एगट्टा ।^{१७}
 पदन्ति वा भूताधिकरणन्ति वा हणन्ति वा एगट्टा ।^{१८}
 लयणन्ति वा गिहन्ति वा एगट्टा ।^{१९}
 णिक्खन्तोत्ति वा पब्बइओत्ति वा एगट्टा ।^{२०}

१-जिनदास चूर्णि, पृ० २३१ ।

२-बही, पृ० २३२ ।

३-बही, ,, २३३ ।

४-बही, ,, २३४ ।

५-बही, ,, २५४ ।

६-बही, ,, २६१ ।

७-बही, ,, २६३ ।

८-बही, ,, २६४ ।

९-बही, ,, २६६ ।

१०-बही, ,, २६६ ।

११-बही, पृ० २७४ ।

१२-बही, ,, २८३ ।

१३-बही, ,, २८३ ।

१४-बही, ,, २८७ ।

१५-बही, ,, २८७ ।

१६-बही, ,, २८९ ।

१७-बही, ,, २८९ ।

१८-बही, ,, २९० ।

१९-बही, ,, २९० ।

२०-बही, ,, २९३ ।

- संभओति वा अणुमओति वा एगट्ठा ।^१
 मल्लति वा पार्वति वा एगट्ठा ।^२
 गुणेतिस्ति वा परियट्ठतिस्ति वा एगट्ठा ।^३
 अभूतिभावोति वा बिणासभावोति वा एगट्ठा ।^४
 पउंजेज्जति वा कुब्बिज्जति वा एगट्ठा ।^५
 पभासइति वा उज्जोएइति वा एगट्ठा ।^६
 उवट्ठिओति वा अब्भुट्ठिओति वा एगट्ठा ।^७
 सालति वा साहति वा एगट्ठा ।^८
 निमग्घति वा पावति वा एगट्ठा ।^९
 उभओति वा दुहओति वा एगट्ठा ।^{१०}
 पुज्जोणाम पूयणिज्जोति वा एगट्ठा ।^{११}
 चरतिस्ति वा भक्खतिस्ति वा एगट्ठा ।^{१२}
 सक्कति वा सहयति वा एगट्ठा ।^{१३}
 दोमणस्संति वा दुम्मणियंति वा एगट्ठा ।^{१४}
 सयरंति वा अणुबद्धति वा एगट्ठा ।^{१५}
 सोऊण वा सोच्चाण वा एगट्ठा ।^{१६}
 मुणिस्ति वा नाणिस्ति वा एगट्ठा ।^{१७}

१--जिनवास चूर्णि, पृ० २९३ ।

२-बही, ,, २९४ ।

३-बही, ,, २९७ ।

४-बही, ,, ३०२ ।

५-बही, ,, ३०६ ।

६-बही, ,, ३०७ ।

७-बही, ,, ३०८ ।

८-बही, ,, ३०८ ।

९-बही, ,, ३१४ ।

१०-बही, पृ० ३१६ ।

११-बही, ,, ३१८ ।

१२-बही, ,, ३१९ ।

१३-बही, ,, ३२० ।

१४-बही, ,, ३२१ ।

१५-बही, ,, ३२३ ।

१६-बही, ,, ३२४ ।

१७-बही, ,, ३२४ ।

- वयंतिति वा गच्छंतिति वा एगट्टा ।^१
 ठाणंति वा भेदोत्ति वा एगट्टा ।^२
 चउव्विहत्ति वा चउभेदत्ति वा एगट्टा ।^३
 पेहत्ति वा पेच्छत्ति वा एगट्टा ।^४
 अट्ठियत्ति वा आयरइत्ति वा एगट्टा ।^५
 कित्तिवणसहसिलोगट्टया एगट्टा ।^६
 रुइयंति वा सेयंति वा एगट्टा ।^७
 पडिपुल्लंति वा निरवसेसंति वा एगट्टा ।^८
 कुव्वइत्ति वा घइइत्ति वा एगट्टा ।^९
 खेमंति वा सिबंति वा एगट्टा ।^{१०}
 वोसट्ठंति वा वोसिरियंति वा एगट्टा ।^{११}
 मुच्छासदो य गिद्विसदो य साधुत्ति वा एगट्टा ।^{१२}
 संगोत्ति वा इंदियत्थोत्ति वा एगट्टा ।^{१३}
 भिक्खुत्ति वा साधुत्ति वा एगट्टा ।^{१४}
 अकुडिलेत्ति वा अणिहोत्ति वा एगट्टा ।^{१५}
 आइक्खेत्ति वा पवेदइत्ति वा एगट्टा ।^{१६}
 महामुणीत्ति वा महानाणीत्ति वा एगट्टा ।^{१७}
 उवेइत्ति वा गच्छइत्ति वा एगट्टा ।^{१८}
 तंतंति वा सुत्तोत्ति वा गंथोत्ति वा एगट्टा ।^{१९}
 णामंति वा ठाणंति वा भेदंति वा एगट्टा ।^{२०}

१-जिनदास चूर्चि, पृ० ३२४ ।	११-बही, पृ० ३४४ ।
२-बही, पृ० ३२५ ।	१२-बही, ,, ३४५ ।
३-बही, ,, ३२६ ।	१३-बही, ,, ३४६ ।
४-बही, ,, ३२६ ।	१४-बही, ,, ३४६ ।
५-बही, ,, ३२७ ।	१५-बही, ,, ३४७ ।
६-बही, ,, ३२८ ।	१६-बही, ,, ३४८ ।
७-बही, ,, ३२९ ।	१७-बही, ,, ३४८ ।
८-बही, ,, ३२९ ।	१८-बही, ,, ३४८ ।
९-बही, ,, ३२९ ।	१९-बही, ,, ३४९ ।
१०-बही, ,, ३२९ ।	२०-बही, ,, ३४९ ।

८-सम्भ्यता और संस्कृति

दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। उस पर आचार्य भद्रबाहु कृत ३७१ गाथाओं वाली निर्युक्ति और अगस्त्यसिंह स्थविर (वि० की तीसरी या पाँचवीं शताब्दी) तथा जिमदास महार (वि० की सातवीं शताब्दी) कृत चूर्णियाँ हैं। आचार्य हरिभद्र (वि० की ९ वीं शताब्दी) ने उस पर टीका लिखी। जो तथ्य मूल आगम में थे, उन्हें इस व्याख्याकारों ने अपने-अपने समय के अनुकूल विकसित किया है। प्रस्तुत अध्ययन मूल तथा उक्त व्याख्या-ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इससे आगम-कालीन तथा व्याख्या-कालीन सम्भ्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है।

गृह :

गृह अनेक प्रकार के होते थे।^१

(१) स्नात—भोग्हरा।

(२) उच्छ्रित—प्रासाद।

(३) स्नात-उच्छ्रित—ऐसा प्रासाद जहाँ भूमि-गृह भी हो। एक लम्बे वाले मकान को प्रासाद कहा जाता था।^२

मकान झरोखेदार होते थे।^३ उनकी दीवारें चित्रित होती थी।^४ मकानों के द्वार शालामय होते थे। दरवाजों के ताला लगाया जाता था।^५ नगर-द्वार के बड़े-बड़े दरवाजे

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ८९

घरं तिचिह्नं-स्नातं उस्सितं स्नातोसितं, तस्य स्नायं जहा भूमिघरं, उस्सितं जहा पासाओ, स्नातउस्सितं जहा भूमिघरस्त उबरि पासाओ।

२—हारिमयी टीका, पत्र २१८.

अत्रैकस्तम्भ. प्रासाद.।

३—हारिमयी टीका, पत्र २३१ :

गवासीकादीन् .।

४—दशवैकालिक ८।५४ :

चित्तमिति न निष्काए।

५—हारिमयी टीका, पत्र १८४ :

द्वारमन्त्रं वाऽपि...

होते थे। उनमें परिच लगा हुआ होता था और गोपुर के किबाड आदि के आगल लगी हुई होती थी।^१

घरो के द्वार शाणी और प्रावार से आच्छादित रहते थे। शाणी अतसी और बल्क से तथा प्रावार मृग के रोए से बनते थे।^२ निर्जन व्यक्तियों के घर काँटों की डाली से ढके रहते थे। घर गोबर से लीपे जाते थे।^३

घरों में स्नान-गृह और शौच-गृह होते थे। भिक्षु घर की मर्यादित भूमि में ही जा सकते थे। उसका अतिक्रमण सन्नेह का हेतु माना जाता था।^४

घरों में फूलों का प्रचुर मात्रा में व्यवहार होता था। कणबीर, जाति, पाटल कमल, उत्पल, गर्दभक, मल्लिका, शास्मली आदि पुष्प व्यवहृत होते थे। रसोई घर को उत्पल से सजाया जाता था।^५

घर भाड़े पर भी मिल जाते थे।^६

कई अपवरको के द्वार अत्यन्त नीचे होते थे। वहाँ भोजन सामग्री रहती थी।^७

उपकरण :

बिना अवष्टंभ वाली कुरसी (आसंदी), आसालक—अवष्टंभयुक्त, पर्यंक, पीठ आदि आसन लकड़ी से बनाए जाते थे और बेंत या डोर से गूथे जाते थे। कालान्तर में वे कहीं-कहीं खटमल आदि से भर जाते थे।^८ पीठा पलाल^९ या बेंत का होता था।^{१०}

१—हारिमह्वीय टीका, पत्र १८४।

२—(क) हारिमह्वीय टीका, पत्र १६६-१६७।

(ख) अगस्त्य चूर्णि—सरोमोपाधारस्ते।

३—दशवैकालिक, ५।१।२१।

४—वही, ५।१।२४-२५।

५—वही, ५।१।२१; ५।२।१४-१६।

६—हारिमह्वीय टीका, पत्र २६४ :

भाटकगृहं वा।

७—दशवैकालिक, ५।१।२०।

८—(क) दशवैकालिक, ६।५४-५५।

(ख) जिनबास चूर्णि, पृ० २८८-२८९।

९—जिनबास चूर्णि, पृ० २२९ :

पीडशं पलाल पीठमादि।

१०—हारिमह्वीय टीका, पत्र २०४ :

पीठके—वेत्रमयादौ।

साधु पाँच प्रकार के तृण लेते थे :^१

- (१) शाली के तृण
- (२) ब्रीहि के तृण
- (३) कोद्रव के तृण
- (४) रालक के तृण
- (५) अरण्य के तृण

पाँच प्रकार के चर्म उपयोग में आते थे :^२

- (१) बकरे का चर्म
- (२) भेड़ का चर्म
- (३) गाय का चर्म
- (४) भैंस का चर्म
- (५) मृग का चर्म

काठ या चमड़े के जूते पहने जाते थे। आतप और वर्षा से बचने के लिए छत्र रखे जाते थे।^३

कम पानी वाले देशों में काठ की बनी हुई कुण्डी जल से भर कर रखी जाती थी, जहाँ लोग स्नान तथा कुल्ला किया करते थे। उसे 'उदगदोणी' कहा जाता था।^४ गाँव-गाँव में रहूँट होते थे और उनसे जल का संचार लकड़ी से बने एक जल-मार्ग से होता था। इसे भी 'उदगदोणी' कहते थे।^५ स्वर्णकार काठ की अहरन रखते थे।^६

बाली, कटोरे आदि वर्तन विशेषतः कांसी के होते थे। धनवानों के यहाँ सोने-चाँदी के वर्तन होते थे। प्याले, क्रीडा-पान के वर्तन, थाल या खोदक को 'कंस' कहते थे। कच्छ

१-हारिमन्नीय टीका, पत्र २५।

२-वही, पत्र २५ :

अथ एक नाभि महिषी मियाजमज्जिं च पंचमं होइ।

३-दशवेकात्मिक, ३।४।

४-जिनवास धूर्ति, पृ० २५४।

५-हारिमन्नीय टीका, पत्र २१८ :

उदकद्रोष्योऽहमृगजलधारिका।

६-वही, पत्र २१८ :

गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी (अहिगरणी) स्थापनी।

आदि देशों में कुण्डे का आकार वाला भाजन^१ अथवा हाथी के पैर के आकार वाला पात्र 'कुण्डमोद' कहलाता था ।^२

सुरक्षा के लिए भोजन के या अन्यान्य पात्र, जलकुम्भ, चट्टी, पीढ, शिला-पुत्र आदि से ढाके जाते थे । तथा बहुत काल तक रखी जाने वाली वस्तुओं के पात्र मिट्टी से लीये जाते थे और श्लेष द्रव्यों से मूदे जाते थे ।^३

सामान्यतः बिछौना ढाई हाथ लम्बा और एक हाथ चार अंगुल चौड़ा होता था ।^४

अनेक प्रकार के आसन, पर्यंक आदि शयन और रथ आदि वाहन काठ से बनाए जाते थे । उसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का काठ काम में लाया जाता था । लोहे का प्रयोग कम होता था ।^५

रथ सवारी का वाहन था और शकट प्रायः भार ढोने के काम आता था । रथ आदि वाहन तिनिस वृक्ष से बनाए जाते थे ।^६

भोजन :

मिष्ठान्न में रसालु को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था । दो पल घृत, एक पल मधु, एक आठक दही और बीस भिर्ब तथा उन सबसे दुगुनी खाण्ड या गुड मिला कर रसालु बनाया जाता था ।^७

भोजन के काम में आने वाली निम्न वस्तुओं का संग्रह किया जाता था—तमक, तेल, घी, फणिन—राब ।^८

१-अगस्त्य धूर्णि ।

२-जिनदास धूर्णि, पृ० २२७ .

हृत्पदागितिसंठियं कुंडमोयं ।

३-दशबैकालिक, ५।१।४५ ।

४-जिनदास धूर्णि, पृ० ३१९ :

संधारया अब्दाइजा हत्वा बीहत्सणेन, चित्पारो, पुण हत्वं सचउरंजुलं ।

५-दशबैकालिक, ७।२९ ।

६-हारिमहोदय टीका, पत्र २३९ ।

७-जिनदास धूर्णि, पृष्ठ २८९-२९० :

वो घयपला मधु पलं बहियस्स य आढय निरीय विसा ।

संडगुला वो मागा एस रसालू निबइजोगो ॥

८-दशबैकालिक, ६।१७ ।

घृत और मधु बड़ों में रखे जाते थे। उन बड़ों को घृत-कुम्भ और मधु-कुम्भ कहा जाता था।^१

तित्तिर आदि पक्षियों का मांस खाया जाता था और इन पक्षियों को बेचने वाले लोग मली-मली में घूमा करते थे।^२

लोग ऋतु के अनुसार भोजन में परिवर्तन कर लेते थे। शरद्-ऋतु में वात-पित्त को नष्ट करने वाले, हेमन्त में उष्ण, वसन्त में श्लेष्म को हरने वाले, ग्रीष्म में शीतल और वर्षा में उष्ण पदार्थों का प्रयोग करते थे।^३

घरों में अनेक प्रकार के पानकों से घड़े भरे रहते थे। कांजी, तुषोदक, यबोवक, सोबीर आदि-आदि पानक सर्व-मुलभ थे।^४ हरिभद्र ने पानक का अर्थ आरताल (कांजी) किया है।^५ आचारांग (२।१।७, ८) में अनेक प्रकार के पानकों का उल्लेख है। इन्हें विधिवत् निष्पन्न किया जाता था। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इनके निष्पन्न करने की विधि निर्दिष्ट है। आगमकाल में पेय पदार्थों के लिए तीन शब्द प्रचलित थे—(१) पान, (२) पानीय और (३) पानक। 'पान' से सभी प्रकार के मद्यों का, 'पानीय' से जल का और 'पानक' से द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न पेय का ग्रहण होता था।^६

पके हुए उड्ड को कुत्माष कहा जाता था।^७ मन्थु का भोजन भी प्रचलित था।^८ सम्भव है यह सुभृत का 'मन्थ' शब्द हो। इसका लक्षण इस प्रकार है, जो के सतू धी में भून कर शीतल जल में न बहुत पतले, न बहुत सांद्र घोलने से 'मन्थ' बनता है।^९

१-जिनबास चूर्णि, पृ० ३३०।

२-वही, पृ० २२९-२३०।

३-वही, पृ० ३१५ :

कालं पशुपच आयरियो वुड्डवयत्यो तत्थ सरदि वातपित्तहराणि वव्वाणि आहरति, हेमन्ते उष्णाणि, वसन्ते हिंमरहाणि (सिंमहराणि) गिम्हे सीयकराणि, वासासु उष्णवणाणि, एवं ताव उडुं उडुं पण्ण मुक्ख अट्टाए वव्वाणि आहरिज्जा।

४-दशबैकालिक, ५।१।४७-४८।

५-हारिमन्त्रीय टीका, पत्र १७३ :

पानकं च आरतालादि।

६-प्रवचन सारोद्धार, द्वार २५६, भाषा १४१० से १४१७।

७-हारिमन्त्रीय टीका, पत्र १८१।

८-दशबैकालिक ५।१।६८।

९-सुभृत, सूत्रस्थान, अध्ययन ४६।४२५।

फलमन्थु और बीजमन्थु का भी उल्लेख मिलता है ।^१ मन्थु खाद्य द्रव्य भी रहा है और सुश्रुत के अनुसार इसका उपयोग अनेक प्रकार के रोगों के प्रतिकार के लिए किया जाता था ।^२

पूर्व देशवासी ओदन को 'पुद्गल', लाट देश और महाराष्ट्र वाले 'कूर', द्रविड लोग 'बोर' और आन्ध्र देशवासी 'कनायु' कहते थे ।^३

कौकण देश वालों को पेया प्रिय थी और उत्तरापथ वालों को सत्तू ।^४

उस समय जो फल, शाक, खाद्य, पुष्प आदि व्यवहृत होते थे, उनकी तालिकाएँ नीचे दी जाती हैं :

फल :

(१) फलों के निम्न नाम मिलते हैं :

१. इक्षु (३।७) ।

२. अनमिष (५।१।७३) अननास । अनमिष का अर्थ अननास किया गया है । किन्तु इसका अर्थ मत्स्याञ्जक (पत्तूर या मछेछी) किया जा सकता है । इसे अग्नि-दीपक, तिक्त, प्लीहा, अर्श नाशक, कफ और वात को नष्ट करने वाला कहा गया है ।^५

३. अस्थिक (५।१।७३) अगस्तिया, हथिया, हृदगा । इसके फूल और फली भी होती है । इसकी फली का शाक भी होता है ।^६

४. त्रिदुय (५।१।७३) तेलु—यह भारत, लंका तथा पूर्वी बंगाल के जंगलों में पाया जाने वाला एक ममोले आकार का वृक्ष है । इसकी लकड़ी को आबनूम कहते हैं ।

५. बित्त (५।१।७३) ।

६. कोल (५।२।२१) बेर ।

१—दशवैकालिक, ५।२।२४ ।

२—सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्ययन ४६।४२६-२८ ।

३—जिनबास चूषि, पृ० २३६ :

पुण्ड्रदेश्याणं पुण्ड्रि ओबणो मण्ड, लाडमरहृद्वाणां कूरो, द्रविडाणां बोरो,
अम्भ्राणां कनायुं ।

४—जिनबास चूषि, पृ० ३१९ ।

५—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, ६।१०० :

पत्तूरः दीपनस्तिक्तः प्लीहार्शकफवातजित् ।

६—शालिग्राम निषण्ड सूचन, पृ० ५२३ ।

७. बेलुय (५।२।२१) बिल्व या वेश करिल्ल ।^१
८. कासवनालिय (५।२।२१) श्रीपर्णि फल, कसाह ।^२
९. नीम (५।२।२१) कदम्ब का फल ।^३
१०. कवित्व (५।२।२३) कष ।
११. माउलिग (५।२।२३) बिजौरा ।^४
१२. बिहेलग (५।२।२४) बहेडा ।
१३. पियाल (५।२।२४) प्याल का फल । चिरौजी प्रियाल की मज्जा को कहा जाता है ।^५

फल की तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—(१) वेलोचिन—अतिपक्व, (२) टाल—जिसमें गुठली न पड़ी हो, (३) डूधिक—जिसकी फाके की जा सकें ।^६

आम आदि फलों को इत्रिम उपायो से भी पकाया जाता था । कई व्यक्ति उन्हें गढो में, कोद्रव धान्य में तथा पलाल आदि में रख कर पकाते थे ।^७

अष्टांगहृदय में आम की तीन अवस्थाओं का उल्लेख है और उनके भिन्न-भिन्न गुण बताए हैं—(१) कच्चा आम (बिना गुठली का टिकारो) यह वायु, पित्त और रक्त को दूषित करता है, (२) कच्चा आम (गुठली पड़ा हुआ) यह कफ-पित्त कारक होता है, (३) पका आम—यह गुण, वायु-नाशक होता है और जो अम्ल होता है वह कफ एवं शूल को बढ़ाता है ।^८

१-अवस्थाय चूर्णि :

बेलुयं बिल्वं वंसकरिल्लो वा ।

२-वही :

कासवनालियं सीवर्णी फलं कसाहकं ।

३-बेलो दशबैकालिक (भाग २), पृ० ३०६, टिप्पण ३८ ।

४-बीजुर, मातुलिग, कचक, फल पूरक—इसके पर्यायवाची नाम हैं । बेलो शालिग्राम निषण्ड सूत्रण, पृ० ५७८ ;

५-अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ६।१२३-२४ ।

६-दशबैकालिक ७।३२ ।

७-हार्तिस्त्रिय टीका, पत्र २१९ :

गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालाविना विपाष्य मक्षणयोग्यानीति ।

८-अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ६।१२८, १२९ :

वातपित्तासुक्कृद् बालं, बद्धास्त्रिकपित्तकृद् ।

गुर्वाभिं वातजित् पक्वं, स्वादम्लं कफशुक्रकृद् ॥

शाक

निम्न शाकों के नाम प्राप्त होते हैं :

- (१) मूली (३।७)
- (२) सिगवेर (३।७) आर्द्रक । यह शाक या अन्न के साथ, पेय पदार्थ बनाने में संस्कार करने के लिए (मशाले के रूप में) प्रयुक्त होता था ।^१
- (३) नम्लिण (५।१।७०) पत्ती का शाक ।
- (४) तुबाग (५।१।७०) घीया ।
- (५) साम्बुयं (५।२।१८) कमल कन्द ।
- (६) बिरालिय (५।२।१८) पलाश कन्द । इसे क्षीर-विदारि, जीवन्ती और गोबल्ली भी कहा जाता था ।^२
- (७) मुषालिय (५।२।१८) पद्म-नाल । यह पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है और उसका आकार हाथी दाँत जैसा होता है ।^३
- (८) कुमद-नाल (५।२।१८) ।
- (९) उत्पल-नाल (५।२।१८) ।
- (१०) सासवनालिय (५।२।१८) सरसों की नाल ।
- (११) पूइ (५।२।२२) पोई शाक । पूति—यह 'पूतिकरज' का संक्षिप्त भी हो सकता है । शाकवर्ग में इसका उल्लेख भी है । चिरबिल्व (पूतिकरज) के अंकुर अग्नि-दीपक, कफ-वात-नाशक और मल-रेचक है ।^४
- (१२) पिन्नाग (५।२।२२) पिप्प्याक—सरसों आदि की खली ।
- (१३) मूलगत्तिय (५।२।२३) मूलक-पोतिका—कच्ची मूली ।^५ अष्टांगहृदय में बाल (कच्ची, अपक्व) और बड़ी (पक्की) मूली के गुण-दोष भिन्न-

१—सुश्रुत, सूत्र स्थान, ४६।२२१ २२२ ।

२—अगस्त्य चूर्णि :

बिरालियं पलाशकंदो अहवा छीरबिराली जीवन्ती, गोबल्ली इति क्ष्मा ।

३—जिनवास चूर्णि, पृ० १९७ :

मुषालिया ग्यबंतसन्मिना पडचिर्जिर्वाओ मिष्णच्छति ।

४—अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ६।९८ ।

५—सुश्रुत, ४।६।२५७ ।

बिन्न बतलाए गए हैं।^१ सुभृत में छोटी मूली के लिए मूलक-योतिका शब्द व्यवहृत हुआ है।^२ मूलगतिया का संस्कृत रूप यही होना चाहिए।

खाद्य :

निम्न व्यञ्जनो के नाम मिलते हैं -

(१) सक्कुलि (५।१।७१) शक्कुली—तिलपपड़ी।^३ चरक और सुभृत में इसका अर्थ कचौरी आदि किया है।^४

(२) फणिय (५।१।७१)—गीला गुड (राब)।

(३) पूय (,,)—पूआ।

(४) सत्तुचुण्ण (,,)—शक्नु चुण्—सत्तू का चूर्ण।

(५) मंथु (५।१।६८)—बेर जी आदि का चूर्ण।

(६) कुम्मास (,,)—कुल्माष—गोह्म देश में वे जी के बनाए जाते थे।^५ तिल पप्पडग (५।२।२१) तिल पर्पटक। इसका अर्थ तिल पपड़ी किया गया है। किन्तु हो सकता है कि इसका अर्थ बनस्पति परक हो। शाक वर्ग में तिल पर्णिका (बदरक) और पर्पट (पित्तपापडा) का उल्लेख मिलता है।^६ 'तिल' तिल-पर्णिका का संक्षिप्त रूप हो तो तिल पप्पडग का अर्थ तिल पर्णिका और पित्त-पापडा भी हो सकता है।

(७) चाउलपिट्टु (५।२।२२)—चावल का आटा^७ या भूने हुए चावल।^८

१—अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ६।१०२-१०४।

२—सुभृत, सूत्र स्थान, ४६।२४० :

कटुतिक्तस्ता हृद्या रोचनी बह्निदीपनी।

सर्वबोषहरा लघ्वी कण्ठ्या शूलकपोतिका ॥

३—जिनदास चूर्णि, पृ० १८४ : सक्कुलीति पप्पडिकाणि।

४—सुभृत—अक्षयपदार्थ वर्ग ४६।५४४।

५—जिनदास चूर्णि, पृ० १९० :

कुम्मासा जहा गोल्मविसए अबमया करेति। वेजो बसवैकालिक (भाग २)

पृ० २८५ टिप्पण २२९।

६—अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान ६।७६।

७—अक्षय चूर्णि पृ० १९८।

चाउलं पिट्टो लोहो।

८—जिनदास चूर्णि, पृ० १९८ :

चाउलं पिट्टं कट्टं मज्झइ।

कच्चे चावलों का आटा भी खाया जाता था । मुश्रुत में इसे भन्न संधानकर, कृमि और प्रमेह को नष्ट करने वाला बताया गया है ।^१

(८) तिलपिट्ट (५।२।१२)—तेल का पिट्ठ ।

(९) तैल (६।१७) ।

(१०) घृत (६।१७) ।

(११) पिट्ट-खज्ज (७।३४) पृथु खज्ज ।

चूर्ण और मन्थु

कोल चुन्न (५।१।७१) बैर का चूर्ण ।

फल मन्थु (५।२।२४) फलो का चूर्ण ।

बीज-मन्थु (५।२।२४) जो, उडद मूग आदि बीजों का चूर्ण ।

पुष्प

उत्पल (५।२।१४) नील-कमल ।

पद्म (५।२।१४) रक्त-कमल ।

कुमुद (५।२।१४) श्वेत-कमल । इसका नाम गदभ है ।^२

मगदतिका (५।५।१४) मोगरा मेहदी ।^३

मुश्रुत अष्टागहृदय आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थों के शाक वग में इन शाकों का उल्लेख मिलता है । फल-वग में यहाँ आए हुए फलों का भी उल्लेख है । पिण्याक, तिलपिट्ट आदि भी खाए जाते थे । मुश्रुत में बताया है कि पिण्याक (सरसो, अलसी आदि की खली) तिल कक या तिलो की खल, स्यूणिका (तिल कक से बने-बड) तथा सूखी शाक सर्व दाहो को प्रकुपित करते हैं ।^४

१-मुश्रुत, सूत्र स्थान ४६।०१७

सन्धानकृत्पिट्टमाम ताण्डुल कुमिमेहनुत ।

२-अगस्त्य चूर्णि

कुमुदं गदभं ।

३-हारिमाश्रीय टीका, (पत्र १८५) में इसका अर्थ मोगरा किया है । अष्टांग हृदय (चिकित्सित स्थान २।२७) में मययन्तिका शब्द आया है और उसका अर्थ मेहदी किया है । रक्त-पित्त नाशक स्वाथ तैयार करने में इसका उपयोग होता था । संभव है मगदन्तिका और मययन्तिका एक शब्द हों ।

४-मुश्रुत, सूत्र स्थान, ४६।२१७ :

पिण्याक-तिलकक स्यूणिका शुक्लशाकानि सर्वदोषप्रकोपयानि ।

कमल-कन्द, पलाशकन्द, पद्म-नाल, सरसों की नाल, कुमुद-नाल, उत्पल-नाल आदि-आदि अपक्व खाए जाते थे ।^१

सरसों की नाल शीत-काल में उष्ण होती है—यह मानकर लोग उसे कच्ची खा लेते थे ।^२

भोजन को 'नमी तथा जीव-जन्तुओं से बचाने के लिए मचाने खम्भे और प्रासाद पर रखा जाता था । मचान चार लट्ठों को बांध कर बनाया जाता था । उस पर चढ़ने के लिये निसैनी फलक और पीढ का उपयोग होता था ।^३

बाजारों में मिठाइयाँ विक्री के लिए रखी जाती थी ।^४

जिस भोजन में छोका हुआ शाक और यथेष्ट मात्रा में सूप दिया जाता, वह अच्छा भोजन माना जाता और जिसमें बहार-रहित शाक होता, वह साधारण (शुष्क) भोजन माना जाना था ।^५

भोजन आदि को ठंडा करने के लिए तथा अपने आप में हवा लेने के लिए ताल-वृन्त, पदिमनी-पत्र वृक्ष की डाली, मोर-पीच्छ मोर-पीच्छों का समूह, चामर आदि का उपयोग किया जाता था ।^६

आभूषण :

सोने चादी के आभूषण बनाए जाते थे । सोने के आभूषणों में हीरा, इन्द्र-नील मरकत और मणि जड़े जाते थे ।^७ मस्तक पर चूडामणि बाँधा जाता था ।^८

प्रसाधन :

प्रसाधन में अनेक पदार्थों का उपयोग होता था । होठ तथा नखों को रंगना, पैरों पर अलंकृत रस लगाना, दाँतों को रंगना अदि किया जाता था ।

१-जिनबास चूर्णि, पृ० १९७ ।

२-वही, पत्र १९७ :

सिद्धयगणालो तमवि लोमोऽङ्गसंतिकाङ्ग आमगं चैव लायति ।

३-वशावैकालिक, ५।१।६७ ।

४-वही, ५।१।७१, ७२ ।

५-वशावैकालिक, ५।१।९८ ।

६-वशावैकालिक, ४ सूत्र २१ ।

७-जिनबास चूर्णि, पृ० ३३० :

वहिरिदनीलमरगयमणिणो इव जञ्चकगणसहसंबद्धा ।

८-वही, पत्र ३५० :

चूलामणी सा य सिरे कीरई ।

स्नान दो प्रकार से होता था—देश स्नान तथा सर्व स्नान । देश स्नान में मस्तक को छोड़कर शेष अंग धोए जाते थे और सर्व स्नान में मस्तक से एड़ी तक सर्वाङ्ग स्नान किया जाता था । स्नान करने में उष्ण या ठंडा दोनों प्रकार का जल काम में आता था तथा अनेक प्रकार के पदार्थ भी काम में लाए जाते थे

(१) स्नान—यह एक प्रकार का गन्ध-चूर्ण था, जिससे शरीर का उद्बर्तन किया जाता था ।

(२) कल्क—स्नान करने से पूर्व तेल-मर्दन किया जाता और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आदले का सुगन्धित उबटन लगाया जाता था । इसे कल्क, चूर्ण-कवाय या गन्धाट्टक कहा जाता था ।

(३) शोध—यह एक प्रकार का गन्ध द्रव्य था, जिसका प्रयोग ईषत-राण्डुर छवि करने के लिए किया जाता था ।

(४) पद्मक-पद्माक-पद्म-केसर ।^१

आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन :

स्थान-स्थान पर इन्द्रजालिक घमते थे और लोगो को आकृष्ट करके अपनी आजीविका खलाते थे ।^२ नट विद्या का प्रचार था नाट्य मण्डलियाँ स्थान-स्थान पर घूमा करती थीं ।^३ ये मनोरंजन के प्रमुख साधन थे । शतरंज खेला जाता था ।^४ नालिका एक प्रकार का छत था । चतुर-खिलाडी अपनी इच्छानुसार पासा न डाल दे—इसलिए पासों को नालिका द्वारा डाला जाता था ।^५

नगर के समीप उद्यान होते थे । वे अच्छे वृक्षों से सम्पन्न और उत्सव आदि में बहु-जन उपभोग्य होते थे । लोग यहा उद्यानिका—सहमोज करते थे ।^६ बालक भी स्थान-स्थान पर मनुष्य क्रीडा करते थे ।^७ गो महिष कुक्कुट और लावक को आपस में लड़ाया जाता था और हजारो व्यक्ति उसे देखने एकत्रित होते थे ।^८

१—जिनदास चूर्णि, पृ० २३२ ।

२—वही, पृ० ३२१ ।

३—वही, पृ० ३२२ ।

४—दशवैकालिक ३।४ ।

५—वही, ३।४ ।

६—जिनदास चूर्णि, पृ० २२ ।

७—वही, पृ० १७१, ७२ ।

८—वही, पृ० २६२ ।

विश्वास :

वैदिक परम्परा में विश्वास रखने वाले लोग बादल, आकाश और राजा को देव मानते थे और उनकी उस विधि से पूजा भी करते थे ।^१ वृक्ष-पूजा का प्रचलन था ।

रोग और चिकित्सा :

शारीरिक रोगों को रोकने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । मूत्र का रोग रोकने से वन्धु की ज्योति का नाश होता है । मूल का रोग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है । ऊर्ध्व वायु रोकने से कुछ रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का रोग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है ।^२ वमन को रोकने से वल्गुली या कोढ़ भी उत्पन्न हो जाता है ।^३ सहस्र पाक आदि पकाए हुए तेल अनेक रोगों में काम आते थे ।^४

तक्षत्रों के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाले, स्वप्न-शास्त्री, वशीकरण के पार गामी, अतीत-अनागत और वर्तमान को बताने वाले नैमिषिक तथा यांत्रिक सर्वत्र पाए जाते थे । लोगों का इनमें बहुत विश्वास था । सर्प, विष्णु आदि के काटने पर मंत्रों का प्रयोग होता था ।^५ अन्यान्य विषों को उतारने के लिए तथा अनेक शारीरिक पीडाओं के उपशमन के लिए मंत्रों का प्रयोग होता था ।^६

संवाधन-पद्धति बहुत विकसित थी । अनेक व्यक्ति उसमें शिक्षा प्राप्त करते थे और गाँव-गाँव में घूमा करते थे । संवाधन चार प्रकार से किया जाता था^७—(१) हड्डियों को आराम देने वाला-अस्थिमुख । (२) मांस को आराम देने वाला—मांस-सुख । (३) चमड़ी

१-वसवैकालिक, ७।५२

२-अगस्त्य चूर्णि :

मुतनिरोहे चक्कुं, वच्चनिरोहे य जीवियं जयति ।

उब्धं निरोहे कोढं, सुकनिरोहे मज्ज अशुमं ॥

३-जिनवास चूर्णि, पृ० ३५४, ३५५ :

अममहरिऊण मुहेण उगिसियं वंतं तस्स पडिपीयणं न तथा बिहियं नवति,
तं अतीव रसे न बलं, न उच्छाहकारी, बिलीगतया य पडिप्ति, वग्गुलिं वा
जणयति ततो कोढं वा जणयति ।

४-वही, पृ० २५९ ।

५-वसवैकालिक, ८।५१ तथा हारिमन्नीय टीका, पृ० २३६ ।

६-जिनवास चूर्णि, पृ० ३४० ।

७-वही, पृ० ११३ ।

को आराम देने वाला—स्वक् सुख । (४) रोओ को आराम देने वाला—रोम-सुख ।

शिरोरोग से बचने के लिए धूस्र-पान किया जाता था । धूस्र-पान करने की नली को 'धूमनेत्र' कहा जाता था । शरीर, अन्न और वस्त्र को सुवासित करने के लिये धूस्र का प्रयोग करते थे । रोग की आसंका से बचने के लिए भी धूस्र का प्रयोग किया जाता था ।^१

बल और रु। को बढ़ाने के लिए वमन, वस्तिकर्म और विरेचन का प्रयोग होता था । वस्ति का अर्थ है, दृति दृति से अधिष्ठान (मल-द्वार) में घी आदि दिया जाता था ।^२

उपासना :

पंचांग नमस्कार की विधि प्रचलित थी । जब कोई गुरु के समक्ष जाता तब वह दोनो जानु को भूमि पर टिका, दोनो जोड़े हुए हाथों को भूमि पर रख उनपर अपना शिर टिकाता है । यह बन्दन-विधि सर्वत्र मान्य थी ।^३

यज्ञ :

आहितानि ब्राह्मण अनेक प्रकार से मंत्रों का उच्चारण कर अग्नि में घृत की आहुति देते थे । वे निरन्तर उस घृत-सिक्त अग्नि को प्रज्वलित रखते और उसकी सतत सेवा करते थे ।^४ अग्नि में बसा, हधिर और मधु की भी आहुति दी जानी थी ।^५

दण्डविधि :

दास-दासी या नौकर-चाकर जब कोई अपराध कर लेते तब उन्हें विविध प्रकार से दण्डित किया जाता था । कुछ एक अपराधों पर इन्हें लाठी से पीटा जाता, कभी भाले आदि शस्त्रों से आहत किया जाता और कभी केवल कठोर शब्दों में उपालम्भ मात्र ही दिया जाता था । भोजन-पानी का विच्छेद करना भी दण्ड के अन्तर्गत आता था । कई अपराधों पर भोजन-पानी का विच्छेद करते हुए कहा जाता—“इसे एक बार ही भोजन

१—(क) दशबैकालिक, ३।९ ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ११५ ; हारिमारीय टीका, पत्र ११८ ।

२—जिनदास चूर्णि, पृ० ११५ ।

३—बही, पृ० ३०६ :

पंचमीएण बंरणिएण संजहा—जाणुवुणं भूमीए निबडिएण हसुदुएण भूमीए अबहुंमिय ततो सिरं पंचमं निबाएज्जा ।

४—(क) दशबैकालिक, ९।१।११ ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ३०६ ।

५—जिनदास चूर्णि, पृ० ३६३ :

...वसाधहिरमधुघयाहर्हि ह्यमाणो ।

पेना और एक शराब मात्र ही पानी। इसे एक दिन, दो दिन या अमुक दिनों तक भोजन मत देना।”

शिक्षा :

शिक्षाओं के अनेक केन्द्र थे। स्वर्णकार, लोहकार कुम्भकार आदि का कर्म, कारी-गरी, कौशल, बाण-विद्या, लौकिक कला, चित्रकला आदि-आदि के स्थान-स्थान पर शिक्षा-केन्द्र होते थे। वहाँ विविध शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी : अनेक स्त्री-पुरुष वहाँ शिक्षा प्राप्त करते थे। वहाँ के संचालक—गुरु उन विद्यार्थियों को शिल्प में निपुण बनाने के लिए अनेक प्रकार से उपालम्भ, ताड़ना-तर्जना देते थे। राजकुमार भी इसके अपवाद नहीं थे। सांकल से बांधना, चाबुक आदि से पीटना और कठोर-बाणी से भर्त्सना करना—ये विधियाँ अध्यापन-काल में अध्यापक-वर्ग द्वारा विहित मानी जाती थीं।^१

विद्यार्थी अपने गुरुजनों को भोजन-वस्त्र आदि से सम्मानित करते थे।^२

सम्बोधन :

विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के ‘सम्बोधन-शब्द’ प्रचलित थे :

- (१) हले—इम आमंत्रण का प्रयोग वरदा तट में होता था^३ तथा महाराष्ट्र में तरुण स्त्री का सम्बोधन शब्द था।^४
- (२) अणे—इसका प्रयोग महाराष्ट्र में तरुण^५-स्त्री तथा वेद्या के सम्बोधन में होता था।^६
- (३) हला—यह शब्द लाट देश में प्रचलित था और इससे तरुण-स्त्री को सम्बोधित किया जाता था।^७

१-जिनबास चूर्णि, पृ० ३११, ३१२।

२-(क) बराबैकालिक, १।२।१३, १४।

(ख) जिनबास चूर्णि, पृ० ३१३, ३१४।

३-बही, पृ० ३१४।

४-बही, पृ० २४० :

तत्प वरदा तटे हलेति आमंतणं।

५, ६-अगस्त्य चूर्णि :

हले अणेति मरुह्वेसु तरुणत्वी आमंतणं।

७-जिनबास चूर्णि, पृ० २५० :

अणेति मरुह्वेसु तरुणत्वी आमंतणं, दोषूल्लक्षरणाय चाऽऽवयवं अणेति।

८-अगस्त्य चूर्णि :

हलेति लाडेसु।

- (४) मट्टे—यह पुत्र-रहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था^१ और लाट देश में इससे ननद का बोध होता था ।^२
- (५) सामिणी—यह चाटुता का आमंत्रण शब्द था^३ । तथा लाट देश में प्रयुक्त होने वाला सम्मान-सूचक सम्बोधन-शब्द था ।^४
- (६) होल, गोल, वमुल—ये तीनों गोल देश में प्रचलित प्रिय-आमंत्रण थे ।^५
- (७) गोमिणी—इसमें चाटुता का बोध होता था और यह सभी देशों में प्रयुक्त होता था ।^६
- (८) अण्ण—महाराष्ट्र में पुण्य के सम्बोधन के लिए प्रयुक्त होता था ।^७
- (९) हे, भो—ये सामान्य आमंत्रण थे ।^८
- (१०) मट्टि, सामि, गोमि—ये पूजा वाची शब्द थे ।^९
- (११) होल—यह प्रभवाची शब्द था ।^{१०}

मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा', कही उसे 'धर्म-प्रिया' और कहीं 'धर्मशीला' कहा जाता था ।^{११}

१-अगस्त्य चूर्णि :

मट्टेति अवसरहित वयणं पायो लाडेसु ।

२-जिनबास चूर्णि, पृ० २५० :

मट्टेति लाडाणं पतिमणि मण्ड ।

३,४-बही, पृ० २५० ।

५-अगस्त्य चूर्णि :

होले मोले वासुलेति बेसिए लालणगत्वाणीयाणि प्रियवयणमंतणाणि ।

६-जिनबास चूर्णि, पृ० २५० :

गोमिणिजो चाटुए वयणं ।

७-बही, पृ० २५० :

अण्णेति मरहट्टविसए आमंतणं ।

८-बही, पृ० २५० ।

९-अगस्त्य चूर्णि :

मट्टि, सामि, गोमिया पूया वयणाणि मिहेसातितु सज्ज विमत्तितु ।

१०-बही :

होलइति पमुवयणं ।

११-हारिमन्नीय टीका, पत्र २१३ :

तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना ।

नाम दो प्रकार के होते थे—गोत्र-नाम और व्यक्तिगत-नाम। व्यक्ति को इन दोनों से सम्बोधित किया जाता था। अवस्था की दृष्टि से जिसके लिए जो उचित होता था, उसी प्रकार उसे सम्बोधित किया जाता था।^१

राज्य-अवस्था :

राजाओं के अनेक जेद थे—गण्डलीक, महामण्डलीक आदि-आदि।^२ जो बड़-मुकुट होते, उन्हें राजा, मन्त्री को राजामात्य और सेनापति आदि को 'दंडनायक' कहा जाता था।^३ राजा केवल क्षत्रीय ही नहीं होते थे। कई क्षत्रीय होते पर राजा नहीं, कई राजा होते पर क्षत्रीय नहीं।^४

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अंकित हो वंसा वेष्टन बांधने की जिसे राजा के द्वारा अनुज्ञा मिली हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है।^५ हिन्दू राज्यतंत्र में लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था। आजकल जिसे मेयर कहते हैं, हिन्दुओं के काल में वह 'श्रद्धिन्' या 'प्रधान' कहलाता था।^६

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'श्रेष्ठी' को वणिक्-ग्राम का महत्तर कहा है।^७ इसलिए यह पौराध्यक्ष नहीं, नैगमाध्यक्ष होना चाहिए। वह पौराध्यक्ष से भिन्न होता है।^८ सम्भवत नैगम के समान ही पौर सभा का भी एक अध्यक्ष होता होगा जिसे नैगमाध्यक्ष के समान ही श्रेष्ठी कहा जाता होगा, किन्तु श्रेणी तथा पूर के साधारण श्रेष्ठी से इसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पौराध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठी के साथ राजनगरी का नाम भी जोड़ दिया

१-बासवेकालिक ७।१७, २०।

२-जिनवास चूर्णि, पृ० ३६०

३-वही, पृ० २०८।

४-वही, पृ० २०९।

५-मिश्रिच भाष्य, वाचा २५०३, समाज्यचूर्णि भाग २, पृष्ठ ४५० :

अग्निं य पट्टे सिरियादेवी कञ्जति तं वेष्टयन्, तं अस्त रज्ज्वा अनुनातं सो लेह्यी जञ्जति।

६-हिन्दू राज्यतंत्र, दूसरा खण्ड, पृ० १३२।

७-(क) अगस्त्य चूर्णि :

राजकुलसदस्यभाषो समाधिद्वेष्टो बणिगाममहत्तरो य लेह्यी।

(ख) जिनवास चूर्णि, पृ० ३६०।

८-अर्ध-निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजासंज्ञात्मक परम्पराएँ पृ० १०६।

जानता होगा, जैसे—राजगृह सेठी तथा एक आबस्ती ओछी । निम्नोच्च जातक (४४५) में राजगृह सेठी तथा एक अन्य साधारण सेठी में स्पष्ट अन्तर किया गया है ।

जनपद :

सारा देश अनेक भागों में विभक्त था । ग्राम, नगर आदि की विशेष रचनाएँ और व्यवस्थाएँ होती थीं । इस सूत्र में तीन शब्द आए हैं—ग्राम, नगर और कर्बट (कम्बड) ।

१. ग्राम—जिसके चारों ओर कांटों की बाड़ हो अथवा मिट्टी का परकोट हो । जहाँ केवल कर्मकर लोग रहते हों ।

२. नगर—जो राजधानी हो और जिसमें कर न लगता हो ।^१

३. कर्बट—इसके अनेक अर्थ हैं—

(१) कुनगर जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो ।^२

(२) बहुत छोटा सन्निवेश ।^३

(३) वह नगर जहाँ बाजार हो ।

(४) जिले का प्रमुख नगर ।^४

चूर्णियों में कर्बट का मूल अर्थ माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है ।^५

शस्त्र :

शस्त्र अनेक प्रकार के होते थे—(१) एक धार वाले—परशु आदि । (२) दो धार वाले—शलाका, बाण आदि । (३) तीन धार वाले—तलवार आदि । (४) चार धार वाले—चतुष्कर्ण आदि । (५) पाँच धार वाले—अजानुफल आदि ।

१-(क) हारिमन्नीय टीका, पत्र १४७ ।

मास्मिन् करो विद्यत इति नकरम् ।

(ख) लोकप्रकाश, सर्ग ३१, श्लोक ९ :

नगरं राजधानी स्यात् ।

२-जिनवास चूर्णि, पृ० ३६० ।

३-हारिमन्नीय टीका पत्र २७५ ।

४-A Sanskrit English Dictionary, Page 259. By Sir Monier Williams.

५-जिनवास चूर्णि, पृ० ३६० ।

६-बही, पृ० २२४ :

सासिञ्जइ जेव तं सत्वं, किञ्चि एगधारं दुषारं तिचारं अजधारं पंचधारं

..तत्त्व एगधारं परशु, दुषारं कम्बो, तिचारं जसि, अजधारं तिपडतो कम्पीयो, पंचधारं अजानुफलं ।

याचना और दान :

याचना के अनेक प्रकार प्रचलित थे—

कई याचक कहते—“हम भूमिदेव हैं, लोगो के हित के लिए हम भूमि पर अवतीर्ण हुए हैं। हमें ‘छिन्द’ आदि देने से पुण्य होता है।”

कई कार्पटिक आदि याचक आजीविका के लिए घर-घर घूमा करते थे।

कनीक पाँच प्रकार के होते थे—(१) अतिथि-वनीपक—अतिथि-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (२) कृपण-वनीपक—कृपण भक्त के सम्मुख कृपण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (३) ब्राह्मण-वनीपक—ब्राह्मण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (४) श्व-वनीपक—जो व्यक्ति कुत्ते के भक्त होते थे, उनके सम्मुख श्व-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। वे कहते—“गाय आदि पशुओं को घास मिलना सुलभ है, किन्तु छि, छि कर दुकारे जाने वाले कुत्तो को भोजन मिलना सुलभ नहीं। ये कैलाश पर रहने वाले यक्ष हैं। ये भूमि पर यक्ष के रूप में विहरण करते हैं।” (५) भ्रमण-वनीपक—भ्रमण-भक्त के सम्मुख भ्रमण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले।

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में घन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के काँटो पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते—उठो, उठो जो तुम चाहोगे, वही तुम्हें दूँगे। इतना कहने पर वे उठ खड़े हो जाते।^१

प्रत्येक घर में एक ऐसी सीमा होती थी, जहाँ वनीपक आ-जा सकते थे। इसके अतिक्रमण को बुरा समझा जाता था।^२

स्थान-स्थान पर दान-शालाएँ होती थी। उनके अनेक प्रकार थे। ‘किमिच्छइ’ एक प्रकार की दानशाला थी, जहाँ याचक से ‘तुम क्या चाहते हो’—यह पूछकर दान दिया जाता था।^३

विदेश-यात्रा से लौटकर श्रेष्ठ प्रसाद भाव से सर्व पाक्षिण्डियो (सब सम्प्रदाय

१—जिनवास चूर्णि, पृ० ३२० :

अथा कोवि लोहमयकंटा कचरोज्ज सयनेव उच्छहमाणा न वरामियोगेन
तेसि लोहमयकंठानं उवरिं शुचिज्जति, ते य अण्णे पासिस्ता किंवापरिणज्जेत्ता
अहो वराणा एते अत्थहेवं इमं आवाहं पतसि भन्मंति अथा उद्धे उद्धेहसि, अं
अण्णं ते ये कण्ठानो, सज्जो तिममकंठानिणिमल्लरीरा उद्धेसि ।

२—वत्सकेकालिङ्ग, ५।१।२४ ।

३—अग्नि, ३।३ ।

के साधुओं) को दान देने के निमित्त भोजन बनाते थे। महाराष्ट्र के राजा दास कास में सम्मानरूप से दान देते थे।^१

भोज :

जीमनवार अनेक प्रकार के होते थे—(१) आकीर्ण जीमनवार—यह राजकुल के किसी व्यक्ति या नगर-सेठ द्वारा किया जाता था। इसमें भोजन के लिए आने वालों की संख्या अधिक होती थी। (२) अवमान जीमनवार—इसमें स्वयं और पर-यक्ष के लोग ही भाग लेते थे और इसमें जीमने वालों की संख्या निश्चित होती थी।^२

मृत्यु पर तथा पितर आदि देवों के प्रीति-सम्पादनार्थ संखडि (भोज) किए जाते थे। उन्हें 'कृत्य' कहा जाता था।^३ मज्जिमनिकाय (१।४४८) में इसे 'सखति' कहा है।

मनुष्य का स्थान :

उत्तम जाति वाले पुरुष नीच जाति वालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे उनके पैरों में नहीं पड़ते थे।^४

जाति, कुल, कर्म, शिल्प और कुछ विशेष रोग आदि के आधार पर मनुष्य तिरस्कृत माने जाते थे।^५

जाति से—म्लेच्छ जाति। कुल से—जारोत्पन्न। कर्म से—त्यक्त पुरुषों द्वारा सेवनीय। शिल्प से—चर्मकार। रोग से—कोढ़ी।

१—(क) दशवैकालिक ४।१।४८।

(ख) अगस्त्य चूर्ण :

कोति इस्सरो पचासागतो साधुसहेज सम्बस्स आगतस्स सत्कारजनिमित्तं दाणं वेत्ति, रायाणो वा मरहुट्ठा दाणकाले अबिसेसेण वेत्ति।

२—(क) दशवैकालिक चूलिका २।६ :

(ख) हारिमद्वीय टीका, पत्र २८०।

३—हारिमद्वीय टीका, पत्र २१४।

४—जिनदास, चूर्ण, पृ० ३१६ :

आतीए इडिगारणं वहति, जहा हं उत्तमजातीओ कहमेत्तस्स पांवे लम्बिहामिति।

५—वही, पृ० ३२३ :

अनुयाइ माइतो कुलओ कम्माओ तिप्पयो बाहिओ वा न्वत्ति जाइओ जहा तुमं सेण्णजाइवासी, कुलओ जहा तुमं आरवाओ, कम्मओ जहा तुमं जडेहिं भयणीणओ, तिप्पयो जहा तुमं सो जम्मगारो, बाहिओ जहा तुमं सो कोडिओ।

कर्त्तव्य और परम्परा :

माता-पिता कन्या के घर के चुनाव में बहुत सतर्क रहते थे ।^१

दक्षिणापथ में मामे की लड़की से विवाह किया जा सकता था, उत्तरापथ में नहीं । दक्षिण और उत्तर के खान-यान, रहन-सहन आदि भिन्न थे ।^२

गाँवों में अकेली स्त्री भी इधर-उधर आ-जा सकती थी, परन्तु नगरो में वह दूमरी स्त्री को साथ ले जाती थी ।^३

व्यापार-यात्रा :

लोग व्यापार के लिए दूर-दूर देशों में जाते थे । जब पुत्र देशान्तर के लिए प्रस्थान करता तब पिता शिक्षा के शब्दों में कहता—“पुत्र ! अकाल चर्चा और दुष्ट-ससर्ग से बचने का सदा सर्वत्र प्रयत्न करना ।” वे बार बार इस शिक्षा को दोहराते थे ।^४

पुस्तक :

पुस्तकें पाँच प्रकार की होती थीं—

(१) गंडी—बहु मोटाई और चौड़ाई में सम होनी थी ।

१-इशबेकालिक, ९।३।१३ ।

२-हारिमन्त्रीय टीका, पृ० २२ :

यथा दक्षिणापथे मातुलबुहिता यम्या उत्तरापथे पुनरगम्यैव, एवं मध्यामक्षयेया-
पेयविनाया कर्त्तव्येति ।

३-वही, पृ० २२ :

पुरुरवरधर्मः—प्रतिपुरुरं भिन्नः क्वचित्किञ्चिद्विस्मिदोऽपि पीरमायाप्रदानादि-
लक्षणः तद्वितीया योषिद्गोहान्तरं गच्छतीत्यादिलक्षणो वा ।

४-जिनवास चूनि, पृ० ३४० ।

५-हारिमन्त्रीय टीका, पृ० २५ ।

गंडी कण्ठचि मुट्टी संपुडफलए तथा छिवाडी न ।

एवं पोत्वयपण्यं पणासं बीमराएहि ॥

बाहलपुहुतेहि गंडी पोत्वो उ मुल्लगो बीहो ।

कण्ठचि अंते तणुओ मण्के पिहुल्लो मुणोअण्णो ॥

अउरंमुल्लबीहो वा अट्टामिति मुट्टिपोत्वगो अहवा ।

अउरंमुल्लबीहो चिअ अउरस्तो होई विण्णोओ ॥

संपुडओ दुगमाई फल्ला बोण्णं छिवाडिमेत्ताहे ।

तणुवस्तोसिअण्णो होइ छिवाडी कुहा बेत्ति ॥

बीहो वा हस्तो वा ओ पिहुल्लओ होइ अण्णवाहल्लो ।

तं मुणिअ समयसारा छिवाडिपीत्वं जगंतीह ॥

- (२) कच्छपी—वह अन्त में पतली और मध्य में विस्तीर्ण होती थी ।
 (३) मुष्टि—वह लम्बाई में चार अंगुल अथवा वृत्ताकार होती थी अथवा चार अंगुल लम्बी, अतुल्योण वाली होती थी ।
 (४) संपुटक—यह दो फलकों में बंधी हुई होती थी और
 (५) सुपाटिका—इसका विस्तार अधिक और मोटाई कम होती थी । यह लम्बी भी होती थी और छोटी भी । सम्भवत इसका आकार चोंच जैसा होता था ।

धातु :

सोना केवल आभूषण बनाने के ही काम नहो आता था, वह अन्यान्य कार्यों में भी प्रयुक्त होता था । उसके आठ गुण प्रसिद्ध थे^१—(१) विषघाती—विष का नाश करने वाला । (२) रसायन—यौवन बनाए रखने में समर्थ । (३) मंगलार्थ—मांगलिक कार्यों में प्रयुक्त द्रव्य । (४) प्रविनीत—यथेष्ट प्रकार के आभूषणों में परिवर्तित होने वाला । (५) प्रदक्षिणावर्त—तपने पर दीप्त होने वाला । (६) गुरु—सार वाला । (७) अदाह—अग्नि में न जलने वाला । (८) अकुचनीय—कभी खराब न होने वाला ।

जो सोना कष, छेद, ताप और ताड़ना को सह लेता, वह विगुद्ध माना जाता था ।^२ सोने पर चमक लाने के लिए गोपीचन्दन का प्रयोग किया जाता था । यह मिट्टी सोराष्ट्र में होती थी इसलिए उसे सोराष्ट्रिका कहा जाता था ।^३ कई मनुष्य कुत्रिम स्वर्ण भी तैयार करते थे । वह विगुद्ध सोने जैसा होता था परन्तु कष, छेद आदि सहन नहीं कर सकता था ।^४

१—(क) दशबैकालिक निर्युक्ति, माथा ३५१ ।

विसघाद रसायण मंगलस्थ विणिए पयाहिणावसे ।

गुरुण अडम्भ कुत्वे अट्ट सुवज्जो गुणा भणिओ ॥

(ख) हारिमन्नीय टीका, पत्र २६३ ।

२—दशबैकालिक निर्युक्ति, माथा ३५२ :

अउकारणपरिसुद्धं कसच्छेअगतावतालवाए अ ।

अं सं विसघादरसायणाइयुणसंजुअं होइ ॥

३—जिनवास चूर्णि, पृ० १७९ :

सोरट्टिया उवरिया, जमे सुवज्जकारा उप्पे करेति सुवज्जस्स पिडं ।

४—(क) दशबैकालिक निर्युक्ति, माथा ३५४ ।

(ख) हारिमन्नीय टीका, पत्र २६३ ।

पशु :

तीन वर्ष के बछड़े को 'गोरहग' कहा जाता था^१ तथा रथ की भाँति दौड़ने वाला बैल, जो रथ में जुन गया वह बैल और पाण्डु-मथुरा आदि में होने वाले बछड़ों को पोखण्ड कहल जाता था ।^२ इसका अर्थ कल्होड़ भी किया गया है ।^३ कल्होड़ देखी शब्द है । इसका अर्थ है बत्सतर—बछड़े से आये की और संभोग में प्रवृत्त होने के पहले की अवस्था ।^४

हाथी, घोड़े, बैल, भेस आदि को जो आदि का भोजन दिया जाता था और कहीं-कहीं वे अलङ्कृत भी किए जाते थे ।^५ राजाजों के हाथी घोड़ों के लिए भोजन, अलंकार, आवास आदि की विशेष व्यवस्था होती थी ।^६

पकखली (?) देश में बच्छे घोड़े मिलते थे ।

महामद् (?) और दीलवालिया (?) इन दो जातियों के लक्षण से लखर बंदा होखे थें । घोटग अपव की एक जाति थी । यह आर्जव जाति के घोड़ों से उत्पन्न मानी जाती थी ।^७

मछलियों को बड़िया से पकड़ा जाता था । उसकी नोक पर तीक्ष्ण लोह की कील

१-सूत्रकृतांग, १।४।२।१३ :

'गोरहगं' त्रिहायगं बलिबर्बम् ।

२-अगस्त्य चूर्णि .

गो जोणा रहा गोरह जोनासणेण गच्छन्ति गोरहगा पण्डु-मथुरादीसु कसोर सरिसा गोपोतलगा ।

३-हारिमन्त्रीय टीका, पत्र २१७ :

गोरथका: कल्होडा ।

४-वेसतिनाममाला २।९, पृ० ५९ :

कल्होडो बच्छथरे—कल्होडो बत्सतर. ।

५-जिनवास चूर्णि, पृ० ३११ ।

६-हारिमन्त्रीय टीका, पत्र २४८ ।

७-जिनवास चूर्णि, पृ० २१२-२१३ :

अस्तौ वाच अज्यस्ता ये पक्षलिवितवाहितु मयन्ति, अस्ततरो नाम जे विजातिवाया जहा महामद्दण दीलवालियाच, जे पुन अज्यज्यतिजाता ते घोडगा मयन्ति ।

लगी हुई होती थी और उसपर मांस का टुकड़ा रखा जाता था । जब मत्स्य मांस को खाने जाता तब उसका गला तीक्ष्ण लोहे की नोक में फँस जाता ।^१

श्रमण :

कई प्रकार के साधु तंत्र, मंत्र और चिकित्सा आदि के द्वारा दूसरो का हित सम्पादन कर अपनी आजीविका चलाते थे ।^२

व्यक्ति :

दशवैकालिक में निम्न व्यक्तियों के नाम मिलते हैं । (१) उपसेन—भोजकुल का एक राजा । (२) समुद्रगुप्त—अन्धकवृष्णि कुल का एक राजा । (३) रथनेमि । (४) राजीमती । (५) भद्रिकाचार्य (प्रा० भद्रियायरियु) ।^३ (६) दत्तिलाचार्य (प्रा० दत्तिलायरिया) । (७) गोविन्द वाचक—ये बौद्ध थे । ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की । आगे चलकर वे महावादी हुए ।^४

सिका :

पूणी (रुई की पहल) कोडी आदि भी सिक्के के रूप में प्रचलित थे ।

*

१—जिनवास चूर्णि पृ० ३४१ ।

२—दशवैकालिक, पृ० ५० ।

३—संभव है इन दोनों आचार्यों की दशवैकालिक पर कोई व्याख्यान हो ।

देखो—जिनवास चूर्णि, पृ० ४ ।

४—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०४ ।

परिशिष्ट-१

चूर्णि की परिभाषाएँ

(इस संकलन में मुख्यतः अगस्त्यसिंह स्वबिर की चूर्णि और यत्र-तत्र जिनदास महत्तर की चूर्णि का उपयोग किया गया है) ।

अध्ययन-१

श्लोक	शब्द	अर्थ
३	एमेते	एवं सद्दो तद्वा सदस्स अत्थे..... वकारलोपो सिलोग पायाणुलोमेण ।
”	समणा	अणियत-वित्तित्तणेण समणो तवस्सिणो श्रमु तपसोति ।
”	विहंगमा	विहमागासं विहायसा गच्छंति विहंगमा ।
५	अणिस्सिवा	अणभिसंचितदायारो ।

अध्ययन-२

१	कामे	इट्ठा सहरसरूवगंफासा कंठा विसतिणा मिति कामा ।
२	वत्थ	खोमदुगुल्लादीणि ।
”	गंध	कुंकुमागरुचन्दणादत्तो ।
”	अलंकारं	केसवत्याभरणादि ।
”	अकामगा	अकामगा ।
३	भोए	ईदिव विसया ।
”	साहीणे	अप्पाहीणे ।
४	सिया	सिया सद्दो आसंकावादी, जदि अत्थे वट्टति ।
६	अल्लियं	न मुम्मुर सूतं ।

श्लोक	वाक्य	अर्थ
६	दुरासयं	डाहकत्तणेण दुक्खं समस्सतिज्जितं दुरासदं ।
॥	अगंधणे	उत्तमसप्पा—ते ङकातो बिसं न पिबंति मरंता वि । किंच सुलसागब्धसप्पा कुलमाणसमुण्णता भुयंगमा णाहारोसवस विप्पमुक्कं ण पिबेति बिसं विसाय वज्जितसीला ।
८	भोयरायस्स	भोमो इति हरिवंसो चैव गोत्त विसेसं । तेसि भोयाण राया-भोयराया ।
९	जइ	जदि सद्दो अणब्भुवगमे ।
॥	भावं	भावो-अभिसंगो ।
॥	हडो	जलरुहो वणस्सति विसेसो, अणाबद्धमूलो हडो ।

अध्ययन-३

१	विप्पमुक्काण	अब्भितर बाहिरगंधबंधण विविहप्पगार मुक्काणं विप्पमुक्काणं ।
॥	अणाइण्णं	अकप्पं ।
॥	महेसिणं	महेसिणं ति इसी—रिसी, महरिसी—परमरिसिणो संबज्जंति, अहवा महानिति मोक्खो तं एसंति महेसिणो ।
२	नियागं	प्रतिणियत्तं जं निबंक्करणां, ण तु जं अहासमावत्तोए दिणे-दिणे भिक्खा गहणं ।
॥	अभिहडाणि	अभिहट्ठं जं अभिमुहाणीतं, उवस्सए आणेऊगदिण्णं ।
॥	गंध	गवा कोट्ठे पुडादतो ।
॥	मल्ले	मल्लं गंधिम-पूरिम-संधातिमं ।
३	सन्निही	सण्णिहाणां ।
॥	गिहिमत्ते	गिहिमायणं कंसपत्तादि ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
३	रायपिण्डे किमिच्छे	मुद्धामिसितस्स रण्णो भिक्खा रायपिण्डो । रायपिण्डे किमिच्छे—रायाजो जं इच्छति तस्स तं देति—एस रायपिण्डकिमिच्छतो ।
॥	संवाहणा	संवाचना अट्ठि-सुहा, मंस-सुहा, तय-सुहा, रोम-सुहा ।
॥	दंतपहोयणा	दंतपहोवणं दंताण दंत कट्ठोदकादीहि पक्खालणं ।
॥	संपुच्छणा	संपुच्छणं—(१)-जे अंगा अवयवा सयं न पेच्छति अच्छि-सिर-पिट्ठमादि ते परं पुच्छति—सोमस्ति वा ण व त्ति' (२)-अहवा गिहीण सावज्जारंभाकता पुच्छति..... ।
॥	देहपलोयणा	अंगमंगाहं पलोएति 'सोमस्ति ण वेति' ।
४	अट्ठावए	अट्ठावयं जूयप्पगारो । रायाख्हं णयजुतं गिहत्थानं वा अट्ठावयं देति । केरिसो कालोत्ति पुच्छित्तो भणति ण याणामि, आगमेस्स पुण सुणकावि सालिकूरं ण भूजंति ।
॥	णालिए	जूयविसेसो, अत्थ मा इच्छितं पाडेहितित्ति णालियाए पासका दिज्जंति..... ।
॥	तेगिच्छं	रोगपडिक्कम्मं ।
५	सेज्जायरपिण्डं	सेज्जा वसतो, स पुण सेज्जा दाणेण संसारं तरति सेज्जातरो तस्स भिक्खा सेज्जातरपिण्डो ।
॥	आसंदी	उपविसणं ।
॥	पलियंकए	सयणिज्जं ।
॥	गिहंतरणिसेज्जा	गिहंतरं पडिस्सयातो बाहिं जं गिहं । गेण्हीत्ति-गिहं । गिहं अंतरं च गिहंतरं, गिहंतरं निसेज्जा जं उवक्किट्ठी अच्छति ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
५	गायस्त्रुष्वट्याणि	गातं सरीरं तस्मै उक्त्वट्ठं—अङ्गैकगुण्यलगाईणि णाईहि ।
६	गिहिणो वेयावडियं	गिहीणं वेयावडितं जं तेसि उक्कारे वट्टति ।
॥	आजीववित्तिया	सा पंचविहा जाति कुलगणकम्मसिष्ये आजीवणाओ ।
॥	तत्तानिब्बुडभोइत्तं	णातोव अगणि परिणतं तं तत्त-अपरिनिब्बुडं अहवा तत्तं पाणी तं पुणो सीतली भूतं आउक्काय परिणामं जाति तं अपरिणयं अणिब्बुडं गिम्हे अहोरत्तेणं सच्चित्ती भवति, हेमन्ते-वासासु पुब्बण्हे कतं अवरण्हे । अहवा तत्तं भवि तिन्निवारे अणुव्वतं अणिब्बुडं तं ओ अपरिणतं भुजति सो तत्त-अनिब्बुडभोजी ।
॥	आउरेस्सरणाणि	(१) छुहादीहि परीसहेहि आउरेणं सीतोदकादि पुव्वभुत्तसरणं । (२) सत्तूहि वा अभिभूतस्स सरणं भवति..... । (३) अहवा सरणं आरोग्यमाला तत्थ पवेसो गिलाणस्स..... ।
७	मूलए	सारूजाति ।
॥	सिंगबेरे	अल्लणं ।
॥	कदे	कंदा चमकादतो ।
॥	मूले	मिसादतो ।
॥	फले	अंबादतो ।
॥	बीए	बीओ अण्ण विसेसो ।
॥	सोवच्चले	उत्तरावहे पम्बत्तस्स लवणखाणीसु संभवति ।
॥	सॅअवे	सॅअबलोणपम्बत्ते संभवति ।
॥	रोम्भ	रूम्भाए भवति ।
॥	लोणे	संभरीलोणं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
८	सामुद्दे	समुद्घाणीयं रिणेकेद्वारादिकतमावट्टतं कवणं भवति ।
॥	पंसुखारे	पंसुखारो ऊसो कञ्जिज्जंतो अद्दुप्पं भवति ।
॥	कालालोणे	तस्सेव सेंधवपव्वतस्स अंतरंतरेसु (कालालोण) खाणीसु संभवति ।
९	धूमणेत्ति	धूमं पिबति 'मा सिररोगातिथो भविस्संति' आरोग पट्टिकम्मं, अहवा 'धूमणेत्ति' धूमपाणसलागा, धूवेति वा अप्पाणं वत्थाणि वा..... ।
॥	वत्थिकम्म	वत्थीणिरोहादि दाणत्थं चम्ममयो णालियाउत्तो कीरति तेण कम्मं अपाणाणं सिणेहादि दाणं वत्थिकम्मं... ।
॥	विरेयणे	कसायादीहि सोघणं ।
॥	अञ्जणे	नयण विभूसा ।
॥	दंतवणे	दसणाणं विभूसा ।
॥	गायकमंग	सरीरकमंगप्पमह्णाईणि ।
॥	विभूसणे	अलंकरणं ।
१०	लहुभूयविहारिणं	लहु जं ण गुरु स पुण बायुः, लहुभूतो—लहुसरितो विहारो जेसि ते लहुभूत-विहारिणो तहा अपडिबद्ध गामिणो ।
११	पंचासवपरिण्णाय	पंच आसवा प्राणातिवातादीणि पंच आसव- दाराणि...परिण्णा दुबिहा—जाणणापरिण्णा पच्च- क्खाणपरिण्णा य । जे जाणणापरिण्णाए जाणिऊण पच्चक्खाण-परिण्णाए ठिता ते पंचासवपरिण्णाय ।
॥	उज्जुदंसिणो	उज्जु—संजमो समया वा, उज्जु—सगरोसपक्ख- विरहिता अविगाह्णती वा, उज्जु—श्लोकसमगो तं प्रस्सं-तीति उज्जुदंसिणो, एवं अस्से अगवंतो गच्छ- विरहिता उज्जुदंसिणो ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
१२	सुसमाहिता	नाणदंसण चरित्तेषु सुट्ठं आहितासुसमाहिता ।
१३	धुयमोहा	धुयमोहा विक्किणमोहा मोहो मोहणीयमण्णार्ण वा..... ।
१५	सिद्धिमगं	सिद्धिमगं—दरिसण-नाण-चरित्तमत्तं ।
”	परिणिब्बुद्धा	परिणिब्बुद्धा-समंता णिब्बुद्धा सम्बप्पकारोच्चाति- मवधारणकम्म परिवत्तते ।

अध्ययन-४

सूत्र		
१	आउसं	सीसस्स आह्वानो, आयुष्मइ ग्रहणेण जातिकुलाद- तोषि गुणाऽऽबिहृता भवति—आयुष्पहाणा गुणा अतो आयुष्मन् ।
”	भगवया	भगो जस्स अत्थि सो भगवान् । ‘अत्थजस्सलच्छि- धम्मप्ययत्तविभवाण छण्ह एतेसि भग इति णामं—ते जस्स संति सो मण्णति भगवं..... ।
”	कासवेणं	कासं—उच्छू । तस्स विकारो कास्यः रसः । सो जस्स पाणं सो कासवो—उसमसामी । तस्स जे गोत्तजात्ता ते कासवा । तेण बद्धमाणसामी कासवो.....तेण कासवेण ।
”	पवेइया	साधुवेदिता, साधुविण्णाता ।
”	सुपण्णत्ता	अहावुद्धि सीसाणं प्रज्ञापिता ।
”	सेयं	अतिसयेण पसंसणीयं ।
”	अज्जमयणं	अधीयते तद् इति अज्जमयणं ।
”	धम्मपण्णात्ती	धम्मोपण्णविज्जाए जाए सो धम्मपण्णात्ती, अज्जमयण विसेसो ।

सूत्र	शब्द	अर्थ
३	पुडविकाइया	पुडवी-भूमी कातो जेसि ते पुडविकाया—एत्थ काव सहो सरीरामिवाणो अहवा पुडवी एव कातो पुडवी-कातो—एत्थकायसहो समूहवाणी ।
४	चित्तमंतं	चित्त—चेतना बुद्धी । तं जीवतत्त्वमेव । सा चित्तवती सजीवा इति ।
५	अण्णत्थ	अण्णत्थसहो परिवज्जणे वट्टति ।
६	सम्मुच्छिमा	पउमिणिमादि उदगपुडवि सिणेह सम्मुच्छिमा समुच्छिमा ।
७	सबीया	सबीया इति बीयावसाणा दसवणस्सति भेदा संगहतो दरिसिता ।
८	पाणा	जीवा, प्राणंति वा निव्वसंति वा ।
९	अंडजा	अंडजाता अंडजा मयूरादयः ।
१०	पोतजा	पोतमिव सूयते पोतजा कल्लुलीमादयः ।
११	जराउजा	जराओ बेढिता जायंति जराउजा गवादयः ।
१२	रसजा	रसासे भवति रसजा तक्कादो सुहुम सरीर ।
१३	उन्मिया	भूमिं मिदिऊण निद्धावति सलमादयो ।
१४	परमाहम्मिया	परमं—पहाणं तं च सुहं । अपरमं—ऊणं तं पुण दुक्खं । धम्मो—समावो । परमो धम्मो जेसि ते परमधम्मिता । यदुत्तं—सुखस्वभावा ।
१५	दंडे	दंडो सरीरादि णिग्गहो ।
१६	भते	हे कल्लण सुखभागिन् भगवन् एव भते ।
१७	वेरमणं	नियत्तणं ।
१८	अदिण्णादाणं	अण्णपुण्णात्तस्स गहणा दिण्णादाणं ।
१९	मिसी	णदी पव्वतादि तडो ततो वा अं अवहस्सिंतं ।
२०	सिलं	सवित्थारो पाठण बिसेसो ।
२१	केलुं	मट्टिया-पिंडो ।

शुभ	शब्द	अर्थ
१६	ससरक्खं	सरक्खो—वंसू । तेण अरक्खं वसुणा सहगतं— ससरक्खं ... ।
”	किलिबेण	अवच्छिन्नं कटुं ।
”	अंगुलियाए	हृत्वेगवेसो ।
”	सलागाए	कटुमेवच्छिन्नं ।
१६	उदगं	जदी तलागादि संसितपाणीय मुदगं ।
”	ओसं	सरयादौ णिसि मेव्वसंभवो सिणेह विसेसो तोस्सा ।
”	हिमं	अतिसीतावर्ध्वमित्त मुदगमेव हिमं ।
”	महियं	पातो सिसिरे दिसामंभकारकारिणी महिया ।
”	करगं	वरिसोदगं कवणीमूतं करगो ।
”	हरतणुं	किंचि सिणिद्धं भूमिं भेत्तूण कंहिचि समस्सयत्ति सफुसितो सिणेह-विसेसो हरतणुतो ।
”	सुद्धोदगं	अंतरिक्षपाणि तं ।
२०	इंगालं	खदिरादीण णिदुङ्गान धूम विरहितो इंगालो ।
”	मुम्मुरं	करिसगादीण किंचि सिद्धो अग्गी मुम्मुरो ।
”	अच्चि	दीवसिहा, सिहरादि अच्ची ।
”	उज्जालेज्जा	वीयणगादीहिं आल्लकरणं उज्जालणं ।
२१	ताल्लयंटेण	मुक्खेवजाती ।
”	पत्तेण	पउमिणिपण्णमादिपत्त ।
”	पिट्ठेण	पेट्टण मोरंगं तेसिं कलावो ।
२२	ख्खेसु	उच्चिन्नजतं ।
”	जाएसु	आबद्धमूलं ।
२३	पीठगंसि	उड्डयं अत्थ चिट्ठति तं ठाणं पीठगं ठाणमतं वा ।
”	फल्लगंसि	अत्थ सुप्पति चंपगमट्टादि पेठगं वा ।
”	सेज्जंसि	सज्जंगिका ।
”	संधारगंसि	अङ्गाइज्ज हत्थां सत्तो सच्चतुरंगुलं हत्थं विच्छिज्जो ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	पाणभूयाई	पाणा तसा, भूता थाबरा अहवा फुळउत्तासनितासा पाणा, सेसा भूता ।
„	अष्ठाणी	जीवाजीव विन्नाण विरहितो अष्ठाणी ।
„	किं	किं सहो खेद वाची ।
११	कल्लाणं	कल्लं आरोगं, कल्लाणं संसारातो विमोक्खणं ।
१४	जीवे	जीवंतीति जीवा, आउप्पाणा धरेंति ।
„	गइं	नरकादि अहवा गतिः-प्राप्तिः ।
१५	पुण्णं	जीवाणं आउबलविभवसुखाति सूतितं पुण्णं ।
१८	मुंडे	इंदिय-विसय—केसावणयणेण मुंडे ।
१९	संवरं	पाणातिवातादीण आसवाण निवारणं ।
„	अणुत्तरं	कुतित्तियस धम्मोहि पहाणो ।
२०	सव्वत्तं नाणं	सव्वत्थ गच्छतीति सव्वत्तं—केवलनाणं केवल- दर्शणं च..... ।
२३	सेलेसि	सीलस्स ईसति वसयति सेलेसी ।
२६	मुहसायगस्स	मुखं स्वादयति चक्खति तस्स ।
„	सायाउलगस्स	मुहेण आउलस्स, आउलो अणेकगो मुहं कयाति— अणुसीलेति, साताकुलो पुण सदा तदभिज्झाणो ।
„	निकामसाइस्स	सुयच्छिण्णे मउए सुइतुं सीलमस्स निकामसायी ।
„	उच्छोलणापहोइस्स	प्रभूतेण अजयणाए घोवेति ।

अध्ययन-५ (उद्देशक-१)

श्लोक	शब्द	अर्थ
४	ख्माणुं	णाति उच्चो उद्धट्ठिओ दाह विसेसो ।
„	विज्जलं	{ विगयं मात्रं जतो जलं तं विज्जलं (चिक्खले) । { उदगचिक्खिल्लयं । [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	संकमेण	कस्मिन् संकमो ।
८	तिरिच्छसंपाद्विमेसु	पतंगादतो तसा ।
९	वेस	पविसंति तं विसयत्विणोत्ति वेसा, पविसंति वा जणमणेषु वेसो स पुण णीयइत्थी समवातो ।
११	बंभचेरवसाणुए	बंभचेरं मेहुणवज्जणं व्रतं तस्स वसमणुगच्छति बंभचेरवसाणुगो साधु ।
१२	विसोत्तिया	विस्रोतसा प्रवृत्तिः ।
१०	अणायणे	आयतणं ठाणं आल्लो, ण आयतणं—अणायतणं अस्थानं ।
११	संसग्गीए	संपक्को ।
१२	संढिभं	ढिभ्भाणि वेड्ढ्वाणि । णाणाविहेहिं खेलणएहिं खेलत्ताणं तेसि समागमो संढिभं ।
१५	आलोयं	गवक्खगो । बोपलपादी । [जि०]
१६	थिगलं	जं घरस्स दारं पुब्बामसी तं पडिपूरियं । [जि०]
१७	दारं	निगमपवेसमुंह ।
१८	संघि	यमलघराणमंतरं । खत्तं पडिडक्कियं । [जि०]
१९	दगमवणाणि	पाणियकं मत्तं पाणियमंघिका ण्हाणमंढवादि ।
२०	रहस्सारक्खिय	रायंतेपुरवरामाल्यादयो ।
२१	पडिक्कुट्ट	निदितं, तं दुबिहं इत्तरियं आवगहिं इत्तरियं— मयग सूतगादि आवगयिंह चंडालादि ।
२२	मामगं	मा मम घरं पविसंतु ति मामगं । सो पुण पंतयाए इस्साल्लुयत्ताए वा ।
२३	अच्चियत्त	अणिट्ठो पवेसो जस्स सो, अह्मन् ण बागो जस्स पवत्तइ तं दाणपरिहीणं केवलं परिस्समकारी ।

श्लोक	सम्ब	अर्थ
१७	चियत्तं	इदं निग्गमणपवेसं, चागसंपणं वा ।
१८	साणी	बक्कपडो
"	पावार	कप्पासितो पडो सरोमो पावरितो ।
२०	णीयदुवारं	णीयं दुवारं जस्स सो णीयदुवारा त पुण फलिहृत्य वा कोट्टतो वा जवो भिक्खा नीणिज्जति ।
२२	एल्लां	बक्करओ ।
"	बच्छगं	गोमहिसतणओ ।
२४	अइभूमि	भिक्खायरभूमि अतिकमणं ।
३३	ससिणिद्धं	जं उदगेण किंचि णिद्धं ण पुण गलति ।
"	ससरक्खे	पंसुरउगुंठित ।
"	लोणे	सामुद्दादि ।
३४	गेह्य	सुवण्णगेस्तादि ।
"	वणिज्य	पीतमट्टिया ।
"	सेडिय	महासेडाति ।
"	सोरट्टिय	तुवरिया सुवण्णस्स ओप्पकरणमट्टिया ।
"	पिट्ठ	आमपिट्ठं आमओ लोट्टो । सो अप्पिचणो पोहसिए परिणमति, बहुद्वणो आरतो परिणमइ ।
"	उक्कट्टं	छरो सुरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिट्ठं वा, अंबिलिया पीलुपण्णियातोणि वा ।
		दोद्धिय कालिगादीणि उक्खले छुब्भन्ति । [जि०]
४०	कालामाणिणी	फसूतिकालमासे । नवमे मासे यम्भस्स बट्टमाणस्स (जिणकप्पिया पुण जइवसमेव अश्वन्नसत्ता भवति तन्नो दिवसाओ आरद्धं परिहरन्ति) । [जि०]
४५	दगबारएण	दगबारओपाणियवङ्कलओ ।
"	पीसए	पीसणी ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
४५	पीडण	कट्टातिमयं ।
"	लोटेण	णीसायुत्त ।
"	लेवेण	मट्टियादि ।
"	सिलेसेण	जउखउरादि ।
४७	दाणट्ठा	कोति ईसरो पवासागतो साधु सद्धेण सब्वस्स आगतस्स सक्कारणिमित्तं दाणं देति.....रायाणो वा मरहट्ठगा दाणकाले अबिसेसेण देति ।
४६	पुण्णट्ठा	पव्विणीसु पुण्णमुद्दिस्सकीरतितं पुण्णट्ठप्पगढं ।
५६	उत्तिग	कीड्डियाणगरं ।
"	पणगेसु	उल्ली ।
६६	गभोरं	अप्पगासं तमः ।
"	भुसिरं	अंतोसुण्णयं तं जंतुआलओ भवति । [जि०]
६७	निस्सेणि	मालादीण आरोहण-कट्ठ ।
"	फलगं	बहुलं कट्टमेव ।
"		महल्लं सुबण्णयं भवइ । [जि०]
"	पीढं	ण्हाणादि उपयोग्यं ।
"	मंचं	सयणीयं, चढणमंचिगा वा ।
"	कीलं	भूमिसमाकोट्टितं कट्ठं ।
"		कीलो उड्डुं व खाणु । [जि०]
"	पासायं	स-मालको घर बिसेसो ।
"		निज्जूह गवक्खोक्खोमितो । [नि० चू० १३।११]
७०	कंदं	चमकादि ।
"	मूलं	पिसादि ।
"	पलंबं	फलं ।
"	सन्निरं	सागं ।
"	तुंबागं	अं त्वयाए मिलणं अमिलाणं अंतो एवमगमम् ।

श्लोक	शब्द	वर्ण
७०	सिगबेरं	अल्लगं ।
७१	सत्तु	जवातिक्खणा जवातिघाणाक्किारो ।
"	चुण्णाई	पिट्ठबिसेसा ।
"	कोल चुण्णाई	कोलो-बदरो, तेसि चुण्णाणि, कयचि कयत्थानं ।
"	सक्कुलि	तिलप्पडिया ।
"	फाणियं	छुट्टु गुलो ।
"	पूयं	तवगसिद्धो ।
७५	वार-घोयणं	वालो वारगो रलयोरेक्खमिति कृत्वा लकारो भवति । वालः तेण वार एव बालः तस्स घोवणं फाणितातीहिं लित्तस्स बालादिस्स जं मि किंचि सागादि संसेदेत्ता सुत्तो सित्तादि कीरति ।
"	चाउलोदगं	चाउलघोयणं ।
८२	कोट्ठां	सुण्णघण्ण कोट्ठादि कोट्ठो । बट्ठमढो सुन्नओ । [जि०]
"	मिस्तिमूलं	दोण्हं घराण मन्तरं ।
९८	सूइयं	सव्वजणं ।
"	असूइयं	णिव्वजणं ।
"	उल्लं	सुसूबियं ।
"	सुक्कं	मंदसूबियं ।
"	मंथुं	बदरामहित चुण्णं ।
"	कुम्मास	पुलगादि कुम्मासा ।

अध्ययन-५ (उद्देशक-२)

१	पडिगहं	अत्तपडिगह मायणं ।
२	सेज्जा	उब्बस्सओ । उब्बस्सतावि मट्टकोट्ठादि । [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
२	निसीहियाए	सज्जायट्ठार्ण, जम्मि वा खल्लमूलादौ सेव निसीहिया ।
"	अयावयट्ठ	यावदट्ठं—यावदमिप्रायं, न यावदट्ठं-अयावदट्ठं ।
७	उच्चवावया	णाणाविघजातिरूववयसंठाणादिभिः ।
६	अग्गलं	दुबारे तिरिच्छं खील्लिका कोडियं कट्ठं, गिहादी कबाडिनिरोवकट्ठं अग्गला ।
"	फलिहं	णगरदारकबाडोवत्थंमणं ।
१०	माहणं	माहणा वीयारा ।
"	किबिणं	किवणा पिडोलगा ।
१४	उप्पलं	णीलं ।
"	पउमं	णलिणं ।
"	कुमुअं	गइमगं ।
"	मगदंतियं	मेत्तिगा ।
		अण्णे मणंति धियइल्लो । [जि०]
१८	सालुयं	उप्पलकंदो ।
"	मुणालियं	पउमाण मूला ।
		गयदतसन्निभा पउमिणि-कंदाओ निग्गच्छति । [जि०]
"	सासवणालियं	सिद्धत्यगणाला ।
१९	तणग	अग्गगमूलं ।
२०	छिवाडि	संवल्लिया ।
		संगा । [जि०]
"	आमियं	असिच्चपक्का तं वा सति भज्जिता ।
२१	कोलं	पतरं ।
"	बेलुयं	बेलयं—बिल्लं वंसकरिल्लं ।
"	कासवणालियं	सीवण्णीफलं, कत्साककं ।

श्लोक	सङ्ख	अर्थ
२१	तिलपप्यङ्गा	आमतिलेहिं जो पप्यङ्गो कस्तो ।
„	नीमं	णीवफलं ।
२२	चाउलं पिट्ठं	चाउलं पिट्ठं लोट्ठो तं अमिनवमणिघणं सचित्तं भवति ।
„	वियडं	उण्होदगं । सुद्धमुदयं । [जि०]
„	तत्त-निब्बुडं	सीतलं पडिसचित्तीभूतं अणुवत्तदं वा ।
„	तिलपिट्ठ	तिलउट्ठो । तिलवट्ठो—जो अट्ठाइहिं तिलेहिं जो कओ तत्थ अभिण्णता तिला होज्जा वरमिन्ना वा । [जि०]
„	पूइ पिन्नागं	सरिसवपिट्ठ । सिद्धत्थपिडग । [जि०]
२३	कविट्ठं	कवित्थफलं ।
„	माउलिगं	बीजपूरगं ।
„	मूलगं	समूलं पलासो ।
„	मूलगत्तियं	मूलगकंदगं च कत्तिया । मूलकंदा । [जि०]
२४	फलमंथूणि	बदरादि क्षुण्णं ।
„	बीय-मंथूणि	बहुबीजाणि । जवमासमुग्गादीणि । [जि०]
„	बिहेलगं	उंबरदीणि, भूतस्वस्वफलं—तस्समाणाजातीतिं हरिडगाति वा ।
„	पियालं	पियालस्वस्वफलं ।
२५	समुयाणं	समुयाणीयंति—समाहरिज्जंति तदत्थं चाउल्लागतो रसादीणि तदुपसाधणाणि अण्णमेव समुदानं अहवा पुब्बमणितमुग्गमुप्यायणेसणामुद्धमणं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२५	कुलं	घरं ।
"	उन्वाक्यं	अणेगविहं—हीणमज्जिमाहिगमपडिक्खुट्ठेत्ति ।
"	ऊसढं	उस्सितं ।
"	नीयं	दुगुंछियकुलाणि । [जि०]
२६	वित्ति	सरीरधारणं ।
"	मायन्ने	मात्रा-परिमाणं तं जाणातीति मातण्णो ।
२८	सयण	संभारगादि ।
"	आसण	पीढकादि ।
"	भत्त	ओयणादि ।
"	पाण	मुद्दिपावाणगादि ।
३२	अत्तट्ठ-गुरुओ	अप्पणीयो अट्ठो अत्तट्ठो । सो अस्स गुरुओ, सो अत्तट्ठगुरुओ ।
३३	बिरसं	णिल्लोणाति ।
३४	आययट्ठी	आगामोणी काले हितं आयतीहितं । आयतिहितेण अत्थी आयत्थी अभिलासी । आयतो—मोक्खो । आययं अत्थयतीति आययट्ठी । [जि०]
"	मुणी	जती, मट्टारओ ।
"	सुतोसओ	किंचि लभिज्जं अलभिज्जं वा तुस्सति ।
३५	माण	अम्भुट्टाणादीहि गव्वकरणं ।
"	सम्माण	बत्थातीहि एगदेसेण वा माणो सव्वगतो परिसंगो सम्माणो ।
"	मायासल्लं	सल्लमाउव देहल्लगं...मायैव तस्स सल्लं भवति ।
३६	सुरं	पिट्ठकम्म समाहारो ।
"	पेरगं	पसण्णा विसेसो । पसन्नो सुरापयोग्गोहं दब्बोहं कीरइ । [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
३६	ससक्खं न पिबे	सक्खी भूतेण अप्यणा—सचेतण इति । अहवा जया गिलाणकउजे तता 'ससक्खो' ण पिबे जणसक्खि- गमित्थर्यः ।
३८	सोडिया	सुरादिसु संगो । जा सुरातिसु गेही सा सुडिया मण्णति ।
॥	माया	णिगूढं पायवं, सद्धता ।
॥	मोस	पुच्छियस्स अवलावो, अलीयं ।
३६	संवरं	पच्चक्खणं ।
४१	गुणाणं	सीलव्वयादयो ।
४६	देवकिब्बिसं	देव सद्देण कस्साव तत्थ बिस्सवुद्धि भवेज्जा अतो किब्बिसिया देव दुगुच्छणत्थमिदं मण्णति ।
४८	एलमूयं	एलओ इव वोव्वडमासी ।
५०	तिव्वलज्ज	तिव्वयत्थर्यः, लज्जा-संयम एव जस्स स भवति तिव्वलज्जो ।

अध्ययन-६

१	गणिं	गणो समुदायो संघो जस्स अत्थीति गणो ।
२	रायाणो	बद्धमुकुटा ।
॥	रायमच्चा	अमच्च, सेणावतिपमितयो ।
॥	माहणा	बंमणा । बीयारा तेसि उप्पसी अहा सामाइयनिज्जुत्तीए ।
[जि०]		
१५	दुरहिद्वियं	दुगुच्छियाविद्वितं, दुक्खं वा पव्वजाट्ठेण अविद्वि- ज्जति ।
॥	मेयाययण	मेदो-बिणासो, आययणं-मूलं ।
१७	बिडं	पागजात ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
१७	उब्भेद्म	सामुद्राति ।
"	लोणं	आगरेसु समुप्यज्जति ।
"	तेलं	तिलाति विकारा ।
"	फाणियं	उच्छ्रूविकारो ।
"	सन्निहि	सण्णिवानं ।
२२	अणुफासो	अणुसरण मणुगमो अणुफासो ।
"	लज्जासमा वित्ती	संजमाणुविरोहेण वित्ति ।
"	एगभत्तं	एगबारं भोयणं, एगस्स वा रागदोसरहियस्स भोयणं
२४	उदउल्लं	बिंदुसहितं ।
३२	जायतेयं	जात एव जम्मकाले एव तेजस्वी ण जहा आदिच्चो उदये सोमो मज्झण्हे तिब्बो ।
"	पावगं	हव्वं । सुराण पावयतीति पावकः—एवं लोइया भणंति । वयं पुण अविसेसेण ढहण इति पावकः ।
४७	पिढं	असणादि ।
"	सेज्जं	आवसहो ।
"	बत्थं	रजोहरणादि ।
५०	कुंड	संधिय कसभायण मेव महंतं ।
५३	आसंदी	आसणं ।
"	मंचं	मंचको ।
"	आसालएसु	साबट्ठंममासणं ।
५६	णिसेज्जा	णिसीयणं ।
६१	घसासु	गसति सुहुमसरोर जीवविसेसा इति घसी, अंतो सुण्णो भूमिपदेसो पुराण भूसातिरासि वा ।
"	भिलुगासु	कण्हभूमिदलो भिलुहा ।
६३	सिणाणं	सामायिगं उबण्हाणं ।
"	कक्कं	गंधट्ठो कक्कं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
६३	लोढं	कसायादि ।
"	पठमगाणि	केसर ।
६५	विभूसा	विभूषणं, अलंकरणं ।
		ण्हाणुव्वलण उज्जलवेसादि । [जि०]

अध्ययन-७

११	फरुसा	लुक्खा, गेहविरहिता ।
१३	आयार	वयण-नियमण मायारो ।
१४	होले	निट्ठुर मामंतणं, देसीए भ (रु) विल वदणमिव ।
"	बसुले	सुट्ठपरिभव वयणं ।
"	दमए	भोयण-निमित्त घरे-घरेद्धमति गच्छतीति दमओ रंकः ।
"	दुहए	दुभगो—अपिट्ठो ।
१५	अज्जिए	पितामही वा मातामही ।
"	पज्जिए	पितामही मातामही माता ।
१६	हले, अण्णे	मरहट्ठेसु तरुणित्थो मामंतणं ।
"	हले	लाडेसु ।
"	भट्टे	अम्म-रहित वयणं ।
"	सामिणि	पायो लाडेसु ।
"	गोमिणि	सव्व देसेसु ।
"	होले, गोले, बसुले	गोल्लविसये, देसीए लालगात्थाणीयाणि प्रियवयणा- मंतणाणि ... ।
२२	पमेइले	प्रगाढमेदो, अत्थूलोवि सुक्कमेदमरितो ।
२७	णावाणं	अणेगकट्टसंघातकमुदकजाणं ।
"	दोणिणं	एग कट्ठ उदगजाण मेव जेण वा अरहट्ठादीण उदकं संचरति ... ।
२८	पीढए	पट्ट ण्हाण पायपीडादि, उवविसण्णां-पीढग ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२८	चंगबेरे	चंगेरिगासंठित ।
"	मह्यं	बीयसारणत्वं समं कटुं ।
"	जंतलट्टी	जंतोपीडणं ।
"	गंडिया	चम्मारादीणं दीहं चउरस्सं कटुगं ।
२९	उवस्सए	साधुणिलयणं ।
३४	ओसहीओ	फल्ल्याकपज्जत्ताओ सालिमादिओ ।
३५	थिरा	जोग्गादिउपघातात्तीओ ।

अध्ययन-८

३	अच्छण	छणणं छणः—क्षणं हिंसायामिति एयस्स रूवं क्षकारस्स य छगारता, पाक्ते जघा अक्खीणी अच्छीणी अकारो पडिसेहो ण छणः अच्छणः—अहिंसणमित्यर्थः ।
५	सुद्धपुढवीए	असत्थोवहता पुढवी ।
६	सीतोदगं	तलागादिसु भोमं पाणितं ।
"	सिला	करगवरिसं ।
"	वुट्ठं	तक्काल वरिसोदगं ।
"	हिमाणि	हिमवति सीतकाले भवति ।
१०	तण	सेठिकादि ।
"	उदगम्मि	अणंतवणप्फई । [जि०]
"	उत्तिग	सप्पच्छत्तादि । [जि०]
१७	पाय	लाबुदात्मद्वियामयं ।
२१	गिहिजोगं	गिहिसंसर्गि गिहिवाबारं वा ।
२२	निट्ठणं	सब्बसंभारसंभियं सुपाणं सुगंवं सुखसत्तया निट्ठंगत्तं मोघणं ।
"	रसविज्जुडं	निग्गत्तरसं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२३	अयंपिरो	अजंपणसीलो ।
२४	जगणित्तिए	ण एकं कुलं गामं वा णित्तितो जणपदमेव ।
२५	लूह्वित्ती	लूहं संजमो तस्स अणुवरोहेण वित्ती जस्स सो लूह्वित्ती अहवा लूहदव्वाणि चणगनिप्फावकोद्वा- दीणि वित्ती जस्स ।
२६	आसुरत्तं	आसुरो कोहो तव्मावो आसुरत्तं ।
२६	कक्कसं	जो सीउण्हकोसादिकासो सो सरीरं किसं कुब्बइत्ति कक्कसं ।
२७	महाफलं	मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं ।
२८	अत्थंगयम्मि आइच्चे अत्थो णाम पव्वओ, तंमि गतो आदिच्चो अत्थंगओ,	अहवा अचक्खुविसयपत्तो । [जि०]
२९	अत्तिणे	तेंबुरु-विकट्टुहणमिब तिणित्तिणं तित्तिणं ।
३२	अणायारं	अकरणीयं वत्थु ।
३३	गूहे	पडिच्छायणं ।
३७	मित्ताणि	कुलपरंपरागतानि वि मित्ताणि ।
४०	राइणिएमु	पुव्वदिविखता ।
४१	घुवसील्यं	धुवं-सततं सीलं-अट्ठारस सहस्स भेदं ।
४१	मिहो-कहाहिं	रहस्सकयाओ इत्थो संबद्धाओ तहामूताओवाताओ ।
५०	जोगं	ओसहसमवादो । अहवा निहेसणवसीकरणाणि । [जि०]
५०	णिमित्तं	तीतादि । [जि०]
५०	मंत	असावणं ।
५०	मेसजं	विरेचन ओसहं ।
५०	भूयाहिगरणं	भूताणि—एगिदियाईणि तैसिं संबट्टणपरितावणा- दीणि अहियं कीरंति जंमि तं भूताविगरणं [जि०]
५६	विभूसा	अलंकरणं विभूसा । [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
५६	पणीयरस भोयणं	णेहलब्धणसंमारोतिप्रकरितेण सरसत्तं पीतं निद्ध- पेसलं वण्णादिउबवेयं । [जि०]
॥	तालउडं	जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालमुडं ।
५६	पोग्गलाण	रुबरसगंधफरिससहमंतो अत्थो ।
॥	सीईभूएण	उवसंत ।
६०	सद्धा	धम्मो आयारो ।
॥	निक्खंतो	धम्मं पुरतो काळ्णं जं धरातो णिग्गतो ।
॥	परियायट्ठार्णं	परियाओ—पवज्जा, स एव मोक्खसाहण भावेन ट्ठार्णं—स्थानं ।

अध्ययन-६ (उद्देशक-१)

१	यंमा	यंमणं, अभिममाणो, गब्बो ।
२	आसायण	निज्जरा आयस्स सात्तणं ।
४	जाइपहं	जातो—समुप्पत्तो, बबो—मरणं, जम्ममरणाणि गच्छति अह्वा जातिपथं—जातिमगं—संसारं ।
५	आसीविसो	आसीए विसं जस्स ।
१३	लज्जा	संकणं ।
॥	दया	सत्ताणुकम्पा ।

अध्ययन-६ (उद्देशक-२)

१६	दुग्गओ	गलिबलद्धो ।
२१	बिबत्ती	कज्जणात्तो ।
॥	संपत्ती	कज्जलामो ।
२२	पिसुणे	पीति सुणं करोतित्ति पिसुणो ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२२	साहस	रभसेणाकिञ्चकारी ।
॥	हीणपेसणे	पेसणं अथाकालं उपपादयितुं मसत्तो हीणपेसणो ।
अध्ययन-६ (उद्देशक-३)		
१	आयरिय	सुत्तत्थं तदुभयगुणादि संपण्णो अप्पणो गुरूहिं गुरुपदे ठावितो आयरियो ।
४	अण्णायउछं	वेस्सो—चू-२।५ ।
॥	अण्णट्टया	सरीरधारणत्थं ।
॥	समुयाणं	समेच्च उवादीयते इति समुदाणं ।
६	उच्छाहो	सामत्थं ।
१२	हीलए	पुक्खदुच्चरितादि लज्जावणं हीलणं ।
॥	खिसणं	अंबाढणाति किलेसणं खिसणं ।
१५	रय	आश्रवकाले रयो ।
॥	मल	बद्धपुट्ठणिकायियं कम्मं मलो ।

अध्ययन-६ (उद्देशक-४)

सूत्र	शब्द	अर्थ
१	घेरा	गणघरा ।
४	वेय	विदंति जेण अत्थविसेसे जम्मि वा भणिते विदंति सो वेदो तं पुण नाणमेव ।
५	सुअं	दुबालसंगं गणिपिडगं सुत्तणेणं तं मुत्तं ।
श्लोक	खेमं	णिखातं ।

अध्ययन-१०

१	निक्खम्म	निग्गच्छिउण्णं गिहातो । निक्खम्म नाम गिहाजो गिहत्थमावाजो वा दुप- दादीणि य च्छिउण्ण । [जि०] निज्जम्म्य सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा अथवा निज्जम्म्य— आदाय । [जि०]
---	----------	---

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	आणाए	वयणं सदैसोबा ।
॥	बुद्धवयणे	दुबालसंगं गणिपिङ्गं तम्मि ।
॥	वसं	छंदो, विसयाणुरागो ।
॥	वंतं	असंजमं ।
२	सीओदगं	अविगतजीवं ।
३	हरियाणि	हरितवयणं सव्व वणस्सति सूयमं ।
॥	बीयाणि	बीजवयणं कंदादि सव्व वणस्सति अवयव सूयमं ।
॥	सच्चित्तं	सच्चित्तवयणं पत्तेयसाधारण वणस्सति गहणत्थं ।
५	नायपुत्त	णातकुलुप्पन्नस्स णातपुत्तस्सभगवतो बद्धमाण- सामिणो ।
॥	फासे	आसेवणं ।
॥	पंचासव	पंचासवदाराणि इंदियाणि ताणि आसवा चेव ।
६	अहणे	घनं चउप्पदादि तं अस्स नत्थि सो अहणो ।
॥	जायरूवरयए	जं णो केणइ उवाएण उप्पाइयं तं जातरूवं भण्णइ, त च सुवण्णं, रययग्गहणेण रुप्पगस्स गहणं कयं ।
७	सम्मदिट्ठि	सम्भाव सद्दहणा लक्खणा समा दिट्ठि सा अस्स सो सम्मदिट्ठी ।
॥	अमूढे	परतित्थिविमवादीहि अमूढे ।
८	छंदिय	छंदो—इच्छा, इच्छाकारेण जेयणं छंदणं । एवं छंदिय ।
॥	साहम्मिया	समाणबम्मिया (साहृणो) ।
१०	अविहेडए	परे विग्गहविक्रयापसंगेसु समत्थोवि ण तालणा- दिणा विहेट्ठयति एवं सविहेडए ।
॥	गार्मकंटए	इंदिय समवादो गामो तस्स कटंका इव कंटका अणिट्ठविसया ।
११	अक्कोस	मादिसगरादि अक्कोसा ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
११	पहार	कसाति ताडणं पहारा ।
"	तण्णाओ	विमुट्ठितादि अंवाडणं तण्णा ।
"	भय	पञ्चायो ।
"	भेरव	रौहं ।
"	सद्	वेतालकालिवादीणां सद्दो ।
"	संपहासे	समेच्च पहसणं ।
१२	मसाणे	सब-सयणं मसाणे ।
१३	बोसट्टुचत्तदेहे	पडिमादिसु विनिवृत्त क्रियोण्हाणुमहणाति विभूसा- विरहितो चत्तो सरीरं देहोबोसट्टो चत्तोपदेहो जेण सो बोसट्टुचत्तदेहो ।
"	अनियाणे	दिग्वादि विभवेसु अणिदुट्ठचित्तं अनियाणे ।
१५	अज्झप्प	अप्पाण मविकारअण जं भवति तं अज्झप्पं ।
१६	उवहिम्मि	वत्थपत्तादि ।
"	अन्नायउंछंपुल	उंछं चउव्विहं.....दव्वुंछ तावसा दीणा उग्गमु- प्पायणेसणासुद्धं । अण्णायमण्णतेणसमुप्पादितं भावु- छमण्णा उंछं तं पुल्लयति तमेसति एस अण्णाउंछ पुलाए ।
"	निप्पुलाए	पुलाए चउव्विहे.....दव्वपुलाओ पलंजो । मूल- त्तरगुणपडिसेवणाए निस्सारं संजमं करेति एस भाव पुलाए । जवा निप्पुलाए ।
"	कयविककय	मुल्लस्स पडिमुल्लेण गहणं दाणं वा ।
"	संग	जएथ सज्जंति जीवा ।
१७	इड्ढि	वियुव्वणम्मादि ।
"	सक्कारण	पूयण विसेसो ।
२०	अज्जपयं	रिज्जु भावं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२०	हस्सकुहण	हस्स निमित्तो वा कुहणं हस्सकुहणं जवा करेतिं जवा परस्सहसि मुप्पज्जति ।
२१	अपुणागमं	सिद्धो, संसारदुक्खविणिब्बित्ती ।

प्रथम चूलिका

सूत्र

१ स्था० ३ साइ	कुडिलं ।
„ ६ बंतस्स	अब्भं अब्भवहरिऊण मुहेण उग्गिलियं बंतं ।
„ ७ अहरगइ	अवोगतो जत्थ पंडतो कम्मादि पारगो खेणण सक्का वासेतुं सा अवरगतो ।
„ ९ आयंके	सूलादिको आसुकारी सरीर-बाष्ठा विसेसो आयंको सारीरं दुक्खं ।
„ १० संकप्पे	माणसं दुक्खं ।
„ १३ सावज्जे	सह अवज्जेण सावज्जं, अकज्जं गरहितं ।
„ १६ कुस	दब्भाजातीया तृण विसेसा ।

श्लोक

५ सेट्ठि	रायकुललद्धसम्माणो समाविद्धवेट्ठणो बणिग्गाम महत्तरो य सेट्ठी..... ।
„ कव्वडे	चाड चोवग कूडसक्खीसमुग्गामवित्तदुब्बवहारारंभो कव्वडं अहवा कुणगरं जत्थ जल-यल समुग्गव विचित्रदंडं विणिओगो ।
६ मच्छो	जलचर-सत्त-विसेसो ।
„ संताओ	समट्ठितो ।
„ संताण	अवोच्छित्ती ।
८ पंको	चिक्कलो ।
९ गणी	सूरिपद अणुप्पत्तो ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
६	भावियप्पा	सम्मदंसणेण बहु-विहेहिय तवजोरोहिं अणिअ भावि- भावणाहि य भावितप्पा ।
॥	परियाए	तहा पज्ज (य) परिणति अक्खा प्रवज्जा सहस्स अवज्जंसो ।
११	अमर	मरणं मारी, ण जेसिं मारो अत्थि ते अमरा ।
१२	सिरीओ	लच्छी सोमा वा ।
॥	हीलेंति	हो लज्जा मुपणयति हीलेंति यदुक्तं ह्येपयन्ति ।
॥	दाढा	अगदंत-परियस्स दसण-विसेसो दाढा ।
१३	अकिस्ती	जणमुखपरंपरेण गुणसंसदणं किस्ति, होसकिस्सणं अकिस्ति ।
१४	अणभिज्झियं	अमिलासो अभिज्झा । सा तत्थ समुप्पण्णा तं अभिज्झित, तत्थिवरीयं अणभिज्झितं ।
॥	बोही	आरहंतस्स लद्धी बोही ।
१८	आयं	पुण्णविण्णाणादीण आगमे ।

द्वितीय चूलिका

१	चूलियं	अप्पा चूला चूलिया, सा पुण सिहा ।
२	अणुसोय	अणुसहो पच्छामावो सोयमिति पाणिमस्स णिण्णप्पदेसामिसप्पणं ।
॥	पडिसोय	इत्थ पडिसोयं रागविणयणं ।
॥	होडकामेणं	णिब्बाणमणसुहो ।
४	आयार	मूलगुणा ।
॥	परक्कमेण	बलं, आयार-वारणे सामत्थं ।
॥	गुणा	अरित्तावरित्तमेवमूलुत्तरगुण समुदायो गुणा ।
॥	णियमा	पडिमादयो अभिगह विसेसा ।

शब्द	शब्द	अर्थ
३	अणिएयबासो	णिकेतं घरं तत्थ ण वसितव्व मुज्झाणाति वासिणा होतव्वं, अणिएयबासो वा जतो ण णिच्चमेगत्थ वसियव्वं किंतु बिहरितव्वं ।
५	समुयाणचरिया	मज्जादाए उग्गमित्तं तमेगी भावेन उवणीय मिति समुदाणं । तस्स विसुद्धस्सचरणं समुदाणचरिया ।
॥	अण्णायउच्छ	उच्छं दुविहं दव्वओ भावओ य । दव्वओ तावसाईण अं तो, पुव्वपच्छासंयवादीहि ण उप्पाइयमिति भावओ, अन्नायं उच्छं । [जि०]
॥	पइरिक्कया	पइरिक्कं निवित्त भण्णइ । दव्वे अं विजणं भावे रागाइविरहितं, सपक्खपरपक्खे माणवण्णियं वा, तब्भावो पइरिक्कयाओ । [जि०]
॥	उवही	उवधान ।
॥	कल्लह	कोधाविट्ठस्स भंठणं कल्लहो ।
॥	बिहारचरिया	बिहरण बिहारो, बिहारस्स आचरणं बिहारचरिया ।
॥	इसिणं	गणाधरादयो ।
६	आइन्न	अच्चत्थ पडिपूरियं रायकुलसंखडिमादि ।
॥	ओमाण	ऊणं—अवमं, माणं ओमाणं ।
॥	ओसन्न	पायोविस्तीए वट्ठइ ।
॥	संसट्ठ	सगुट्ठं ईसिहत्थमत्तादि । [जि०]
॥	कप्पेण	विघ्नी । [,,]
॥	तज्जाय	जात सहो सजातीय भेद प्रकार बाचको । [,,]
७	अमज्ज	मदनीयं मदकारी वा मज्जं, न मज्जं अमज्जं ।
॥	मंसासि	प्राणीसरीरावयवो ।
॥	अमच्छरीया	मच्छरो—क्रोधो न मच्छरो अमच्छरो ।
॥	बिगई	विकृतिं बिगतिं वा गेतीति बिगई ।
८	गामे	कुलसमवायो गामं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
८	कुले	एगकुडुंबं कुलं ।
॥	णगरे	महामणुस्स संपरिग्गहो पंडित-समवायेणगरं ।
॥	देसे	बिसयस्स किञ्चि मंडलं देसो ।
९	गिहिणो वेयावडियं	गिहि-पुत्तदारं जस्स अत्थो सो गिही, गिहं-घरं जस्स अत्थि सो गिही । गिहीणो वेयावडियं नाम तव्वावारकरणं तेषां प्रीतिजणणं उपकारं असंजमा-णुमादेगं ।
॥	अभिवायणं	वयणेण णमोक्कारादि करणं अभिवायणं ।
॥	अंसकिल्ठिंहे	गिहिवेयावडियादि रागदोस विवाहियं—परिणामो संकिल्ठो तथा भूते परिहरिऊण अंसकिल्ठिंहे ।
१०	निउणं	संजमावस्सकरणीय जोगेसु दक्खो ।
॥	सहाय	सह एगत्यं पवत्तते इति सहायो ।
॥	कामेसु	इत्थि-विसया ।
११	संबच्छरं	काल-परिमाणं । तं पुण नेह बारसमासिगं संबज्झति किंतु वरिसारत्तं चातुमासितं ।
॥	सुतस्स	अत्थ सूयणेण अत्थप्पसूतितो वा सुत्तं ।
१२	खलियं	पमादकत्तं बुद्धि-खलियं । खलणं पुण विचलणं ।
॥	पडिबंघ	पडिबंघणं निदानं वा ।
१४	घोरो	पंडितो तवकरणसूरो वा ।
॥	आइन्नओ	गुणेहिं जबविणियादीहि आपूरितो आइन्नो सो पुण अस्सजातिरेव वा आइण्णो कच्छकादि ।
॥	खलीनं	वज्ज-लोह-समुदायो हयवेगनिरुम्भणं खलिनं ।
१५	जिईदियस्स	विसय विणियत्तिर्येदियो जित्तेदियो ।
॥	पडिबुद्धजीवी	ओ ण भवति पमाद सुत्तो सो पडिबुद्धो, पडिबुद्धस्स जीवितुं सीलो जस्स सो पडिबुद्धजीवी ।

१६. उत्तराध्ययन सूत्र (सन् १९२२, सं० डॉ० सपेन्टियर
प्र० उप्पसला विश्वविद्यालय)
१७. रनेल्स ऑफ भाण्डाटकर ओरिस्पण्टल रिसर्च
इन्स्टीच्युट (जिल्द : १७, सन् १९३६)
१८. ऋक् प्रातिशाख्य
१९. ऋग्वेद (सन् १९५७, प्र० स्वाध्याय-मण्डल, पारडी) सं० सातवलेकर
२०. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर डॉ० मोरीस विन्टरनिट्ज
(भा०२, सन् १९३३, प्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय)
२१. ए हिस्ट्री ऑफ द केनॉनिकल लिटरेचर ही०२० कापड़िया
ऑफ द जैन्स (प्र० ही०२० संकड़ीसेरी, गोपीपुरा, सूरत)
२२. ओष निर्युक्ति (वि०सं० १९७५, श्रीमती वृत्ति सहित, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० आगमोदय समिति)
२३. अंगपण्णसि चूलिका
(प्र० माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला)
२४. कषाय पाण्डु (वि०सं० २००० से २०२२ भा० १-६, भगवद् गुणधराचार्य
प्र० भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरा)
२५. कोसिय जासक (ख०२, सन् १९४२, अनु० मिश्र आनन्द कोसल्यायन
प्र० हिन्दी माहिल्य सम्मेलन, प्रयाग)
२६. गीता महर्षि वेद व्यास
(प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)
२७. गोम्मटसार (कर्म काण्ड) (सन् १९२७, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
प्र० सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अनु०-सं० जे०एल० जैनी
अजिताश्रम, लखनऊ)
२८. गोम्मटसार (जीव काण्ड) " " " "
२९. जय धवल (वि०सं० २००० से २०२२, ६ भाग, वीरसेनाचार्य
प्र० भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा) सं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री
कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
३०. जिनदास चूर्णि (वि० सं० १९८४, जिनदास महत्तर
प्र० शेषचन्द लालभार्ल जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत)
३१. जैन साहित्य और इतिहास (सन् १९४२, नाथूराम प्रेमी
प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई)

प्रयुक्त ग्रन्थों की तालिका

१. अगस्त्य चूर्णि अगस्त्यमिह स्थविर
(फोटो प्रिन्ट प्रति : सेठिया पुस्तकालय, सुजानगढ़) - - -
२. अणु और आभा
३. अनुयोग द्वार आर्यरक्षित सूरि
(प्र० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई)
४. अमिधान चिन्तामणि (कोश) हेमचन्द्राचार्य
(प्र० जमवंतलाल गोरधरलाल शाह, सं० विजयकस्तूर सूरि
८ रोलोफ रोड, अहमदाबाद-१)
५. अष्टाङ्ग हृदय सूत्र स्थान
६. आचाराङ्ग सूत्रम् (वि० सं० २००७, अनु० सुनि सौभाग्यमलजी
प्र० श्री जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन)
७. आचाराङ्ग निर्युक्ति (वि० सं० १९६१, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० श्री सिद्धिचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई)
८. आचाराङ्ग वृत्ति वि० सं० १९६१, शीलाङ्काचार्य
प्र० श्री सिद्धिचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई)
९. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द योजना
१०. आवश्यक निर्युक्ति (वि० सं० १९८८, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० आगमोदय समिति, बम्बई)
११. इतिवृत्त (वि० सं० २०१६, सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
प्र० बिहार राजकीयेन पालिकामन मण्डल)
१२. उत्तराध्ययन (भाग १-३, वि० सं० १९७२, :
प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था)
१३. उत्तराध्ययन चूर्णि (वि० सं० १९८६, जिनदास महत्तर
प्र० श्री ऋषभदेव केशरीमल श्री श्वे० संस्था, इन्दौर)
१४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति (भाग १-३, वि० सं० १९७२, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था)
१५. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति (भा० १-३, वि० सं० १९७२, बेतालवादी शान्तिसूरि
प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था)

३२. तत्त्वार्थ भाष्य (सन् १९३२, भीमडुमास्वाति
प्र० श्री परमभुत प्रभावक जैन मण्डल, अनु० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
जोहरी बाजार, बम्बई-२)
३३. तत्त्वार्थ सूत्र " " "
३४. दशवैकालिक निर्युक्ति (वि० सं० १९७४, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था)
३५. दसवेआलियं (भा०२ वाचना प्रमुख आचार्य पुलमी
मूल, सार्थ, सटिप्पण वि० सं० २०२०,
प्र० जैन इवेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता)
३६. दसवेयालियं सुच (सन् १९३२, सं० डॉ० बाल्थर शुनिग
प्र० सेठ आनन्दजी कल्याणजी, अहमदाबाद)
३७. दशवैकालिक सूत्र : २ स्टडी (सन १९३३, प्रो० एम०००ही० पट्टवर्द्धन
प्र० विर्लिगटन कालेज, संगली)
३८. दशवैकालिक (हारिभद्रीय वृत्ति, वि०सं०१९७४,
प्र० देवचन्द लालचन्द जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था)
३९. दीचनिकाय (सन् १९५८,
प्र० विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डल) सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
(सन् १९३६, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, अनु० राहुल सांकृत्यायन
बनारस)
४०. देशीनाम माला (द्वि० सं०, सन् १९३८, आचार्य हेमचन्द्र
प्र० बम्बई संस्कृत सीरिज)
४१. द्वार्त्रिशद् द्वार्त्रिशिका
४२. धम्मपद (वि० सं० १९८०, सं० धर्मानन्द कोसम्बी
प्र० गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद)
४३. धर्म निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजासत्तात्मक परम्पराएँ
४४. धवला (षट्षण्डागम, भा० १-६, वीर सेनाचार्य
वि० सं० १९६६ से २००६, सं० डॉ० हीरालाल जैन
प्र० जैन साहित्योद्धार कार्यालय, अमरावती)
४५. निशीथ भाष्य (प्रथम संस्करण, सं० उपाध्याय श्री अमर सुनि
प्र० सम्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा) सुनिश्री कन्हैयालाल "कमल"
४६. निशीथ भाष्य चूर्ण(प्र०सं०) " " "

४७. नंदी

(सन् १९५८, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा) सं० सुबोध मुनि
(वि० सं० १९८०, प्र० आगमोदय समिति, बम्बई) वृ० आचार्य मलयगिरि

४८. नंदी वृत्ति (वि० सं० १९८४, हरिभद्र सूरि
(प्र० ऋषभदेव केशरीमल जैन श्री श्वे० संस्था, रतलाम)

४९. पट्टावली समुच्चयः (तपागच्छ पट्टावली, सं० मुनि दर्शनविजय
प्र० चारित्र-स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)

५०. पाद्म-सद-महण्डव हरगोविन्द दाम त्रिकमचंद सेठ
(द्वि० सं०, वि० सं० २०२०,
प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी १)

५१. पातञ्जल ऋक् प्रातिशाख्य

५२. पातञ्जल भाष्य (सन् १९१०, महर्षि पतञ्जलि
प्र० पाणिनि आफिस, बहादुरगज)

५३. पातञ्जल योग दर्शन (वि० सं० २०१७, महर्षि पतञ्जलि
प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)

५४. पार्श्वनाथ का चातुर्थांश धर्म

५५. पिण्ड निर्युक्ति (वि० सं० २०१८, भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० शामन कण्ठकोद्वारक ज्ञानमन्दिर, भावनगर, मोगाष्ट्र)

५६. पंचकल्प

५७. पंचकल्प व्युत्पत्ति

५८. पंचकल्प भाष्य

५९. पंच संग्रह चन्द्र महर्षि
(प्र० आगमोदय समिति श्री जैन आत्मानन्द समा, भावनगर)

६०. प्रमाणनय तत्त्वालोक (वि० सं० १९८६, वादिदेव सूरि
प्र० विजयधर्म सूरि ग्रन्थमाला, लज्जेन) सं० हिमांशु विजयन

६१. प्रवचन सारोद्धार (वि० सं० १९७८, नेमिचन्द्र सूरि
(प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था)

६२. प्रज्ञापरति प्रकरण (वि० सं० २००७, श्रीमन्मसास्वाति
प्र० श्री परमभूत प्रभावक मण्डल, बम्बई) सं० राजकुमार साहित्याचार्य

६३. अज्ञान उपनिषद् (वि० सं० २०१६, मा० शंकराचार्य
प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)

६४. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध श्रीमदजयाचार्य
(प्र० हीरालाल धनसुब्बदास औरिलिया)
६५. प्रश्न व्याकरण (वृत्तिमह) (वि० सं० १९९५,
मुनि विमल जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद ;
धनपतिसिंहजी आगम संग्रह, १०मा भाग)
६६. प्राकृत भाषाओ का व्याकरण (वि०मं०२०१५, गिचर्ड पिशाल
प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना) अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी
६७. प्राकृत साहित्य का इतिहास (ई०मं०१९६१, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी)
६८. बुद्ध वचन (चतुर्थ संस्करण) अनु० आनन्द कौसल्यायन
(महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस)
६९. बृहद्कल्प सूत्रम् (भाष्य नियुक्ति सहित) भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
(मन् १९३३-३८, प्र० श्री जैन आत्मानन्द सभा, सं० मुनि पुण्यविजयजी
भावनगर, सोराष्ट्र)
७०. बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष ('आजकल' वार्षिक अंक सं० पी०वी० बापट
दिसम्बर, १९५६, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली-८)
७१. भगवती (वि० सं० १९८८, अनु० बेचरदास दोशी
प्र० जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद) अ० भ० ह० दोशी
७२. भगवती जोड़ श्रीमदजयाचार्य
(अप्रकाशित)
७३. भगवती वृत्ति अभयदेव सूरि
(प्र० आगमोदय समिति)
७४. भिक्षु शब्दानुशासन
(अप्रकाशित)
७५. भागवत (वि० सं० २०१८, महर्षि वेद व्यास
प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)
७६. मज्झिम निकाय अनु० राहुल सांकृत्यायन
(ई०सं०१९३३, प्र० महाबोधिसभा, सारनाथ) सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
(वि० सं० २०१५, बिहार राजकीय
पालिकासन मण्डल)

७७. **मनुस्मृति** (सन् १९४६,
प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई) सं० नारायणराम आचार्य
७८. **महाभारत** (प्रथम संस्करण,
प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर) महर्षि वेदव्यास
७९. **मूलाराधना** (टीका-विजयोदया) अपराजित सूरि
८०. **योग बिन्दु** (सन् १९४०,
जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अहमदाबाद) हरिभद्र सूरि
८१. **योग शास्त्रम्** (स्वोपश्रुति विवरण सहित)
(सन् १९२६, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर) हेमचन्द्राचार्य
८२. **दिलीजियन द जैन, ल** अनु० डॉ० म्यारीनो
८३. **लोक प्रकाश** विनय विजय गणि
(सन् १९३२, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था)
८४. **विनय पिटक** (सन् १९३५,
प्र० महाबोधि सभा, मारनाथ, बनारस) अनु० राहुल सांकृत्यायन
८५. **विशेषावश्यक भाष्य** जिनभद्रगणि क्षम श्रमण
(बी०सं० २४८९, दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद)
८६. **विसवन्त जातक** (जातक ख० १) अनु० भद्रन्त आनन्द कौमल्यायन
(प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग)
८७. **वेदान्त परिभाषा** धर्मराजाध्वरीन्द्र
(प्रथम संस्करण) सं० श्री पञ्चानन महाचार्य शास्त्री
८८. **वेदान्त सार**
८९. **व्यवहार भाष्य** (वि० सं० १९९४,
प्र० वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर) संशोधक मुनि मानक
९०. **व्यवहार सूत्र** (वि० सं० १९८२,
प्र० जैन इन्स्टीट्यूट संघ, भावनगर) भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
९१. **शालिग्राम निघण्टु भूषण**
९२. **शौनक ऋक् प्रातिशाख्य**
९३. **समाधि शतक**
९४. **सर्वार्थसिद्धि** (वि० सं० २०१२,
प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) आचार्य पूज्यपाद
सं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
९५. **सुप्त निपात** (वि० सं० २०१६,
प्र० बिहार राजकीयेन पालिकासन मण्डल) सं० जगदीश काश्यप

९६. सुश्रुत सूत्र स्थान
९७. सूत्र कृतांग (वि० सं० १९७३,
प्र० आगमोदय समिति)
९८. सूत्रकृतांग वृत्ति (वि० सं० १९७३, अभयदेव सूरि
प्र० आगमोदय समिति)
९९. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (सन् १९६३, सं० सर मोनियर विलियम्स
प्र० मोतीलाल बनारसी दास, बाराणसी)
१००. संयुक्त निकाय (प्र० सं०, सं० मिश्र जगदीश काश्यप
प्र० विहार राजकीयेन पालि पकासन मण्डल)
१०१. स्थानांग (वि० सं० १९६४, श्री अभयदेव सूरि
प्र० शेठ माणिकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद)
१०२. स्थानांग वृत्ति (वि० सं० १९६४,
प्र० शेठ माणिकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद)
१०३. हारिभद्राय अष्टक (वि० सं० १९५६, हरिभद्र सूरि
प्र० भीमसिंह माणिक, निर्णय सागर छापाखाना, बम्बई)
१०४. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास
१०५. हिन्दू राज्यतन्त्र
१०६. हेमशब्दानुशासन (वि० सं० १९६२, आचार्य हेमचन्द्र सूरि
प्र० सेठ मनसुखभाई पारवाड, डायमण्ड जुबली
प्रिन्टिंग प्रेस, मालापोम दरवाजा, अहमदाबाद)
१०७. ज्ञाता धर्मकथाङ्क (वि० सं० २००६,
प्र० मिह्मचक्र साहित्य प्रचारक समिति)

बोर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

२

काल न०

कुल्लु ८